विवेक-ज्योति

वर्ष ४०, अंक २ फरवरी २००२ मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छत्तीसगढ़)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

फरवरी, २००२

प्रबन्ध-सम्पादक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४०
अंक २

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,०००/-
विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर
(हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२५२६९, ६३६९५९, २२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

श्रीरामकृष्ण शरणम्

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर - ४९२ ००१ (छ.ग.)

सादर सनम्र निवेदन

आत्मीय बन्धु/भगिनी,

स्वामी विवेकानन्द, अपनी जन्मभूमि कलकत्ता के अतिरिक्त सम्पूर्ण पृथिवी में सबसे अधिक समय तक लगातार रहे हों, ऐसा स्थान है, तो वह है 'रायपुर नगर'। रायपुर में सन् १८७७ से १८७९ में अपनी किशोर अवस्था में स्वामीजी दो वर्ष रहे थे। उन्हीं की पुण्यस्मृति में रायपुर आश्रम का नामकरण रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम किया गया है।

यह आश्रम गत लगभग ४० वर्षों से नर-नारायण की सेवा में समर्पित है। आश्रम में निम्नलिखित सेवा विभाग हैं –

(१) धर्मार्थ औषधालय – नेत्ररोग विभाग, स्त्रीरोग विभाग, दन्तरोग विभाग, शिशुरोग विभाग, एक्स-रे विभाग, मनोरोग विभाग, हृदयरोग विभाग, पैथोलॉजी विभाग, नाक-कान-गला विभाग। (२) फिजियोथेरेपी (३) होमियोपैथी (४) ग्रन्थालय – (अ) विद्यार्थियों के लिये पाठ्य-पुस्तक विभाग (ब) सामान्य ग्रन्थ विभाग (स) पत्र-पत्रिकाओं सहित निःशुल्क वाचनालय (५) विद्यार्थियों के लिये निःशुल्क छात्रावास (६) श्रीरामकृष्ण मन्दिर (७) साधु-सेवा (८) गोशाला (९) स्कूल के गरीब छात्रों हेतु निःशुल्क कोचिंग क्लास।

इन वर्षों में आश्रम की सेवा गतिविधियों में पर्याप्त वृद्धि हो गई, परन्तु उसकी तुलना में आर्थिक अभाव के कारण आश्रम के भवनों आदि का विस्तार नहीं किया जा सका है। इसलिये अब आश्रम के कुछ विभागों में स्थान-विस्तार की नितान्त आवश्यकता है। उसी प्रकार आश्रम के पुराने भवनों की मरम्मत, रंग-रोगन आदि भी कराने की अत्यन्त आवश्यकता है।

आश्रम में दो प्रकार के सेवक हैं – (१) साधु-ब्रह्मचारी (२) वेतन-भोगी

साधु-ब्रह्मचारियों के भरण-पोषण तथा वेतनभोगी सेवकों के वेतनादि के लिये भी आश्रम को स्थायी कोष की आवश्यकता है। आश्रम के सेवा-कार्यों तथा सेवकों, साधु-ब्रह्मचारियों आदि का भरण-पोषण आप जैसे उदार बन्धु-भगिनियों के दान से ही चलता है।

अतः आपसे सादर अनुरोध है कि निम्नलिखित मदों में उदारतापूर्वक दान देकर अनुगृहीत करें।

बूँद बूँद से ही घड़ा भरता है। आपके द्वारा दिया गया सभी दान हमारे लिये महान है तथा हमारी योजनाओं में परम सहायक होगा।

(१) सत्-साहित्य प्रदर्शन तथा विक्रय विभाग भवन तथा उपकरण (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(२) सेवक निवास भवन तथा उपकरण (सात लाख) ७,००,०००/- रु.

(३) गोशाला निर्माण तथा गोबर गैस संयंत्र आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(४) मन्दिर के सामने मुख्य द्वार का निर्माण तथा द्वार से मन्दिर तक पथ निर्माण (तीन लाख) ३,००,०००/- रु.

(५) पुराने भवनों की मरम्मत तथा रंग-रोगन आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(६) मन्दिर का फूल-उद्यान, जल संसाधन व्यवस्था तथा इनका रख-रखाव एवं विद्युत खर्च (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(७) औषधालय में औषधि आदि का व्यय तथा फिजियोथेरेपि यंत्रों का रख-रखाव, विद्युत व्यय, कर्मचारियों का मानदेय आदि (पच्चीस लाख) २५,००,०००/- रु.

स्थायी कोष के लिये अपेक्षित कुल राशि (रू. एक करोड़ मात्र) १,००,००,०००/- रु.

नर-नारायण की सेवा में आपका सहयोगी,

(स्वामी सत्यरूपानन्द)
सचिव

चेक/ड्राफ्ट कृपया रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के नाम पर लिखें।

रामकृष्ण मिशन को दिये गये दान में ८०जी आयकर अधिनियम के अन्तर्गत छूट मिलती है।

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

वर्ष ४० फरवरी २००२ अंक २

नीति-शतकम्

अकरुणत्वमकारणविग्रहः परधने परयोषिति च स्पृहा ।
सुजनबन्धुजनेष्वसहिष्णुता प्रकृतिसिद्धमिदं हि दुरात्मनाम् ।।५२।।

अन्वयः – अकरुणत्वम्, अकारण-विग्रहः, पर-धने पर-योषिति च स्पृहा, सुजन-बन्धु-जनेषु असहिष्णुता, इदं हि दुरात्मनां प्रकृति-सिद्धम् ।

भावार्थ – निर्दयता, बिना कारण दूसरों से तकरार करना, परधन तथा परनारी की कामना करना और सज्जनों व अपनों के प्रति असहनशीलता – दुष्टजनों के ये स्वाभाविक लक्षण हैं।

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययालङ्कृतोऽपि सन् ।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयङ्करः ।।५३।।

अन्वयः – दुर्जनः विद्यया अलङ्कृतः सन् अपि परिहर्तव्यः । मणिना भूषितः असौ सर्पः भयङ्करः न किम् ?

भावार्थ – दुष्ट व्यक्ति यदि विद्या से अलंकृत हो, तो भी उससे दूर रहना ही उचित है, क्योंकि सर्प यदि मणि से विभूषित है, तो क्या उसमें भयंकरता नहीं रहती?

जाड्यं ह्रीमति गण्यते व्रतरुचौ दम्भः शुचौ कैतवं
शूरे निर्घृणता मुनौ विमतिता दैन्यं प्रियालापिनि ।
तेजस्विन्यवलिप्तता मुखरता वक्तर्यशक्तिः स्थिरे
तत्को नाम गुणो भवेत् स गुणिनां यो दुर्जनैर्नाङ्कितः ।।५४।।

अन्वयः – ह्रीमति जाड्यम्, व्रतरुचौ दम्भः, शुचौ कैतवम्, शूरे निर्घृणता, मुनौ विमतिता, प्रियालापिनि दैन्यम्, तेजस्विनि अवलिप्तता, वक्तरि मुखरता, स्थिरे अशक्तिः गण्यते, तत् गुणिनां सः कः नाम गुणः भवेत्, यः दुर्जनैः न अङ्कितः ।

भावार्थ – गुणियों के प्रत्येक गुण को दुर्जनों द्वारा कलंकित किया जाता है। लज्जा में वे जड़ता, व्रतपालन में दम्भ, शुचिता में कपट, शौर्य में निर्दयता, मौन में निर्बुद्धिता, मधुर वचन में दीनता, पराक्रम में गर्व, अच्छे वक्ता में वाचालता, शान्त स्वभाव में निर्बलता ही देखते हैं।

– भर्तृहरि

श्रीरामकृष्ण-वन्दना

– १ –

अब मैं रामकृष्ण का चेरा ।
उनकी शरण ग्रहण कर जीवन धन्य हो गया मेरा ।।

मायामय जग अँधियारा था,
मैं इसमें खोया-हारा था,
पर अब भोर भई फैला है, स्वर्णिम सुखद सबेरा ।।

मिला मुझे आलोक नया अब,
अपने ही लगते हैं जन सब,
कृपादृष्टि पा दूर हुआ है, अपने-पर का घेरा ।।

फिर न कभी इनमें भटकूँगा,
भवबन्धन में ना अटकूँगा,
मेट चुका हूँ उनके चलते, जनम-मरण का फेरा ।।

– २ –

(मधुवन्ती-कहरवा)

अब रामकृष्ण भज मेरे मन ।
जो परब्रह्म परमेश्वर हैं,
साकार सगुण चिर सच्चिद्घन ।।

इस जग में सब कुछ पाकर भी,
आशा-तृष्णा ना शान्त हुई,
जितना ही तू इसमें डूबा,
उतनी ही प्रज्ञा भ्रान्त हुई;
नश्वर विषयों का मोह छोड़,
कर ध्यान उन्हीं का क्षण-प्रतिक्षण ।।

सोचो तो जरा ठहर पल भर,
है कौन यहाँ तेरा अपना,
जब मौत द्वार पर आयेगी,
सब टूटेगा मधुमय सपना,
सुख-दुख की आँखमिचौनी में,
जा रहा व्यर्थ तेरा जीवन ।।

– विदेह

विवेकानन्द-जीवनकथा (३)

स्वामी प्रेमेशानन्द

(स्वामी प्रेमेशानन्द जी रामकृष्ण संघ के एक अत्यन्त सम्माननीय संन्यासी थे। उनके द्वारा रचित प्रस्तुत पुस्तिका अपने बँगला मूल रूप में अब से लगभग ९० वर्ष पूर्व लिखी गयी थी और स्वामी विवेकानन्द जी के ही एक प्रमुख शिष्य स्वामी शुद्धानन्द जी ने इसका सम्पादन किया था। इसकी भूमिका मे वे लिखते है, "इसके पाठ से थोड़े में ही स्वामीजी के जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाओं की जानकारी हो जाएगी और पाठको के मन में इस जीवन को और भी घनिष्ठ रूप से जानने का आग्रह उत्पन्न होगा। भाषा खूब सरल होने के कारण बालक-बालिकाएँ भी इसे पढ़कर आसानी से समझ सकेगे।" इसीलिए हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। – सं.)

संन्यास

श्रीरामकृष्ण के देहत्याग के पश्चात् नरेन्द्र आदि कुछ युवा शिष्य घर नहीं लौटे। वे लोग उत्तरी कलकत्ते के वराहनगर अंचल में किराये का एक जीर्ण-शीर्ण मकान लेकर वहीं कठोर साधना में लग गये। गृही भक्तगण गुरुदेव के देहत्याग से अति शोक-सन्तप्त हो गये थे। उनमें से कोई-कोई यह सोच नरेन्द्र आदि युवकों की मठ स्थापना में सहायता करने लगे कि एक ऐसा स्थान हो जाय, जहाँ गुरुभ्रातागण मिलकर गुरुदेव के चरित्र पर चर्चा करके थोड़ी शान्ति पा सकें। श्री सुरेन्द्रनाथ मित्र गुरुदेव की अस्वस्थता के समय जैसे प्रति मास रुपये देते थे, वैसे ही अब भी देने लगे। महेन्द्रनाथ और बलराम बोस आदि भक्तगण भी इस कार्य में उनकी सहायता करने लगे।

जो मकान उन लोगों ने किराये पर लिया था, लोग कहते कि उसमें भूतों का निवास है। भूतों के भय से काफी काल तक उसमें किसी के न रहने के कारण उस मकान के चारों ओर जंगल तथा गन्दगी फैली हुई थी। गंगा के निकट थोड़े एकान्त स्थान में स्थित होने तथा भाड़ा कम होने के कारण ही उन लोगों ने यह मकान लिया था। शरीर की रक्षा के बारे में उन लोगों का बिल्कुल भी ध्यान नहीं था। भक्तों के पैसे से दाल-भात जो भी जुट जाता, उसी से वे लोग किसी प्रकार दिन गुजार देते। कभी चावल रहता तो दाल नहीं जुटती, दाल रहती तो नमक नही जुटता; फिर किसी-किसी दिन तो कुछ भी नहीं जुटता। शशी महाराज पर गुरुदेव की पूजा तथा भोग की जिम्मेदारी थी। कभी वे फूल चुनते समय कलमी शाक या तेलाकुचा के पत्ते तोड़ लाते। फिर थोड़े से भात और उन्हीं पत्तों को उबालकर गुरुदेव को भोग देने के बाद सभी आनन्दपूर्वक प्रसाद ग्रहण करते।

सभी गुरुभाई नरेन्द्र के पीछे पागल थे। गुरुदेव ने देहत्याग कर दिया है, परन्तु उनके परमप्रिय शिष्य नरेन्द्रनाथ तो थे ही! उन्हीं को वे गुरुवत् मानकर उनके निर्देशानुसार साधनानन्द में जीवन बिताने लगे। युवकों में से कोई-कोई अपने अभिभावकों के जोर देने पर घर लौट गया था; परन्तु नरेन्द्रनाथ विविध प्रकार से संन्यास जीवन की श्रेष्ठता समझाकर उन्हें पुनः मठ में ले आए। वे उन लोगों के साथ बैठकर धर्मशास्त्र, इतिहास तथा विज्ञान आदि विषयों पर चर्चा करते। कई बार तो पूरी रात ध्यान में ही बीत जाती थी। नरेन्द्रनाथ के सुमधुर कण्ठ से भगवान का गुणगान सुनकर गुरुभ्रातागण भगवत्प्रेम में उन्मत्त होकर उनके साथ आनन्दपूर्वक नृत्य करते। उन लोगों के मुख से भगवान के अतिरिक्त अन्य कोई चर्चा नहीं होती थी, मन सर्वदा भगवच्चिन्तन में लीन रहता था।

बीच-बीच में गृहस्थ भक्तगण भी मठ में आकर ठहरते और उन लोगों का तीव्र वैराग्य, असाधारण शास्त्रज्ञान और साधन-भजन में अनुराग तथा अध्यवसाय देखकर विस्मित रह जाते। कभी-कभी शास्त्रचर्चा करने को साधकगण भी मठ में आते और नरेन्द्रनाथ से वार्तालाप कर स्वयं को कृतार्थ मानते।

इसी प्रकार कई वर्ष तक मठ में तपस्या करने के बाद लोकसंग उनके लिए असह्य हो उठा। तब वे बाकी सारी चिन्ताएँ छोड़कर केवल भगवान का चिन्तन करते हुए एकाकी परिव्राजक के रूप में भ्रमण करने को मठ से निकले और वाराणसी, अयोध्या आदि तीर्थस्थानों में गये। वे जहाँ भी जाते, उनका ब्रह्मतेजमय रूप सबका चित्त आकृष्ट कर लेता। भाग्यवश जिन्हें भी उनकी दो-चार बातें सुनने को मिल जातीं, वे जीवन भर कभी उन्हें भुला नहीं पाते थे। अपने को छिपाने के लिए इन दिनों वे कभी 'विविदिषानन्द', तो कभी 'सच्चिदानन्द' आदि नाम धारण कर लेते थे।

वृन्दावन-भ्रमण करते समय उनके पास एक वस्त्र के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था। एक दिन उन्होंने उस एकमात्र वस्त्र को राधाकुण्ड के जल में धोकर सुखाने को फैला दिया और स्वयं स्नान करने लगे। उसी समय एक बन्दर आया और उनका वस्त्र लेकर निकट ही एक वृक्ष पर चढ़ गया। नरेन्द्रनाथ किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। एक ही कपड़ा था, उसके बिना लोगों के बीच जाकर भिक्षा माँगना असम्भव था। वे बन्दर से वस्त्र लौटा देने को बड़ा अनुनय-विनय करने लगे, 'राधारानी' की बड़ी दुहाई दी, परन्तु बन्दर ने उनका वस्त्र नहीं

लौटाया। अब उनका मन अभिमान से परिपूर्ण हो उठा; उन्होंने मन-ही-मन संकल्प किया कि अब वे लोगों के बीच नहीं जायेंगे और कठोर तपस्या करते हुए वहीं पर देह त्याग देंगे। यह सोचकर वे उन्मत्त के समान घने वन की ओर चलने लगे। अचानक उन्हें लगा कि पीछे से कोई पुकार रहा है। परन्तु उस ओर ध्यान न देकर वे दौड़ने लगे। वह व्यक्ति भी तेजी से दौड़कर एक गेरुआ वस्त्र और कुछ खाद्य-पदार्थ लिए उनके पास आ पहुँचा। इस अद्भुत रीति से अवस्था बदल जाने पर वे भगवान की करुणा के बारे सोचते हुए लौट आये। आकर देखा कि उन्होंने अपना वस्त्र जहाँ सुखाने को डाला था, वहीं पड़ा हुआ है।

गोवर्धन-परिक्रमा करते समय उन्होंने संकल्प किया कि किसी से कुछ माँगेंगे नहीं, भगवान पर निर्भर रहकर ही चलेंगे। इस प्रकार वे देहरक्षण तक की चिन्ता को त्यागकर भ्रमण करने लगे। दोपहर के समय उन्हें बड़ी भूख लग आयी, ऊपर से मूसलाधार वर्षा होने से भी बड़ा कष्ट होने लगा, परन्तु वे भगवान के पादपद्मों में मन लगाकर निरन्तर चलते रहे। अचानक एक आदमी आया और उन्हें खाने को कुछ देकर जंगल के रास्ते चला गया। स्वामीजी गुरुदेव की कृपा देखकर प्रेम से आँसू बहाने लगे।

वृन्दावन भ्रमण के पश्चात् एक दिन स्वामीजी हाथरस जंक्शन स्टेशन पर एक जगह भूखे-प्यासे बैठे थे। स्टेशन-मास्टर श्री शरच्चन्द्र गुप्त ने उन्हें देखा और अत्यन्त श्रद्धापूर्वक अपने घर ले गये। शरच्चन्द्र स्वामीजी के चरित्र पर इतने मुग्ध हुए कि दो-तीन दिन विश्राम के बाद जब उन्होंने विदा माँगी, तो शरच्चन्द्र भी गृह त्यागकर उनके साथ चलने को तैयार थे। स्वामीजी ने पहले तो उन्हें संन्यास जीवन की कठिनाइयों के बारे में समझाया और तदुपरान्त शिष्य बनाने में तीव्र अरुचि दिखायी। परन्तु शरच्चन्द्र का संकल्प अटल था। अन्त में स्वामीजी बोले, "यदि सचमुच ही तुम संन्यासी होना चाहते हो, तो जाओ मेरा यह कमण्डलु लेकर अपने अधीनस्थ कर्मचारियों से भिक्षा माँग लाओ।" शरच्चन्द्र बिना किसी कुण्ठा के भिक्षा माँगने गये। संन्यास ग्रहण के लिए उनकी तीव्र व्याकुलता देखकर माता-पिता ने भी सहमति दे दी। तब स्वामीजी ने उन्हें अपने शिष्य के रूप में स्वीकार किया। ये ही स्वामीजी के सर्वप्रथम शिष्य थे, जो स्वामी सदानन्द या गुप्त महाराज के नाम से परिचित हुए।

स्वामीजी शिष्य को साथ लिए भिक्षान्न से पेट भरते और भगवान का चिन्तन करते हुए ऋषीकेश पहुँचे। वहाँ उनके दिन ध्यान-धारणा में बीतने लगे। परन्तु अधिक दिन वहाँ रहना नहीं हो सका। शरच्चन्द्र बचपन से ही सुख की गोद में पले थे। रास्ते की थकान तथा आहार आदि की अनियमितता से वे बीमार पड़ गये। अत: उन्हें साथ लेकर स्वामीजी हाथरस लौट आये। वहाँ पहुँचकर उन्हें भी मलेरिया बुखार हो गया।

इस बीच उनके गुरुभाइयों को किसी प्रकार उनके हाथरस-निवास की बात मालूम हो गयी। उन लोगों ने अत्यन्त अनुरोधपूर्वक उन्हें एक बार कलकत्ता लौट आने को पत्र लिखा। स्वामीजी का मन भी उन लोगों से मिलने को आतुर था, अत: वे थोड़े स्वस्थ होते ही कलकत्ता आ गये। उन्हे पुन: अपने बीच पाकर मठ के गुरुभाई परम आनन्दित हुए और वे भी अपने भ्रमण के अनुभव सुनाकर उन लोगों को आमोदित करने लगे। थोड़े दिनों बाद स्वामी सदानन्द भी वराहनगर मठ में आकर निवास करने लगे।

कुछ काल मठ में बिताने के बाद स्वामी अखण्डानन्द को साथ लेकर स्वामीजी पुन: भ्रमण करने चल पड़े। इच्छा थी कि इस बार बदरिकाश्रम होते हुए हिमालय के उस पार मानसरोवर तक जायेंगे। भागलपुर, वैद्यनाथ, काशी आदि स्थानों का भ्रमण करते हुए वे अल्मोड़ा, कर्णप्रयाग और तदुपरान्त रुद्रप्रयाग पहुँचे। वहाँ से गढ़वाल जिले के श्रीनगर तथा टिहरी जाकर उन्होंने कुछ दिनों तक तपस्या की। इसी समय उनके कुछ गुरुभ्राता भी उनके साथ आ मिले थे। उन्होंने सोचा था कि टिहरी में कुछ दिन तपस्या करने के बाद वे पुन: केदार-बदरी की ओर अग्रसर होंगे। परन्तु अचानक ही स्वामी अखण्डानन्द के अत्यन्त बीमार पड़ जाने के कारण चिकित्सा हेतु उन्हें देहरादून लौट आना पड़ा। वहाँ से वे ऋषीकेश आये और एक कुटिया बनाकर तपस्या में डूब गये। उस समय दो अन्य गुरुभाई भी साथ में थे। वहाँ पर कुछ दिन बिताने के बाद बुखार से उनका शरीर इतना जर्जर हो उठा कि साथ के गुरुभाई उनके देहावसान की आशंका से भयभीत हो गये। एक दिन पसीना निकलते-निकलते उनका सारा शरीर ठण्डा हो गया; लगता था कि बचने की कोई आशा नही है। क्रमश: वाणी अवरुद्ध हो गयी और नाड़ी की गति भी थम गयी। स्वामीजी की ऐसी अवस्था देखकर गुरुभ्रातागण विचलित हो गये। उसी समय एक वृद्ध साधु वहाँ आ पहुँचे। संयोगवश उनके पास औषधि भी थी। उसी के सेवन से स्वामीजी के शरीर की चेतना लौट आयी। थोड़ी देर बाद ही वे बातचीत करने के योग्य हो गये।

उनका हिमालय-भ्रमण पूरा न हो सका। शरीर थोड़ा स्वस्थ होने पर वे गुरुभाइयों के साथ मैदानी अंचल मे उतर आये। अब उन्होंने गुरुभाइयों का साथ छोड़कर एकाकी भ्रमण करने का निश्चय किया। बारम्बार प्रयास के बावजूद हिमालय के निर्जनतम अंचल में जाकर भी जी-भरकर साधना करने की उनकी इच्छा पूरी न हो सकी। और साधना भी भला वे क्या करते? साधना-जगत् के असंख्य प्रत्यक्ष दर्शन पाकर भी

उनके मन को शान्ति नहीं मिल सकी थी। वे जब भी गहन समाधि में डूबने का प्रयास करते, तब-तब मानव जाति की दुर्दशा का स्मरण हो आने से उनका मन चंचल हो उठता; परन्तु किस उपाय से जगत् के दुख का मोचन किया जाय, यह बात उनकी समझ में नहीं आ रही थी। भारत के दुख-दारिद्र्य की बात सोचते-सोचते वे व्यथा से छटपटाने लगते। अपने एकाकी भ्रमण का संकल्प उन्होंने गुरुभाइयों के समक्ष व्यक्त किया, परन्तु वे लोग किसी भी हालत में उन्हें छोड़ने को राजी न थे। आखिरकार उन्होंने खूब हठ करके, यहाँ तक कि डाँट-फटकार करके भी गुरुभाइयों को मना लिया।

अब वे निसंग होकर भ्रमण करने लगे। वे जहाँ भी जाते, उनकी असाधारण प्रतिभा छिपी न रह पाती। शिक्षित-अशिक्षित सभी उनके उपदेश सुनकर मुग्ध हो जाते। सभी शास्त्रों में उनकी पैठ देखकर पण्डितगण चकित रह जाते। भक्तिरस से परिपूर्ण भजन गाते-गाते जब वे समाधिस्थ हो जाते तो उनके मुखमण्डल पर प्रस्फुटित दिव्यभाव को देखकर लोग उन्हें महाभक्त समझ बैठते। फिर ज्ञानी के साथ वेदान्त विचार करते समय उनमें पूर्ण ज्ञान के ऐश्वर्य प्रकट हो जाते। रामनाद में एक दिन वे मन-वाणी से अतीत-ब्रह्मतत्त्व के बारे में बोल रहे थे। उसी समय एक पण्डित आकर स्वामीजी की बातों में बाधा डालते हुए बोले, "चिन्तन के अतीत ब्रह्म के विषय में वार्तालाप करना व्यर्थ है, क्योंकि उनका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया जा सकता।" इस पर स्वामीजी निर्भीक चित्त से कह उठे, "मैने उस अचिंत्य ब्रह्म का साक्षात्कार किया है।"

वे जहाँ भी जाते, वहाँ हलचल मच जाती। कोई उन्हें छोड़ना नहीं चाहता था। एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुँचने के पूर्व ही लोगों के मुख अथवा पत्रों से वहाँ प्रचार हो जाता कि एक अद्भुत शक्तिसम्पन्न और महाविद्वान् साधु आ रहे हैं। यह सुनकर वहाँ के निवासी पहले से ही उनके उपदेश सुनने को व्यग्र हो जाते थे। लोगों की ज्यादा भीड़ अपने पास एकत्र न हो, इस उद्देश्य से कभी-कभी वे अपना नाम बदल लेते, परन्तु उस ब्रह्मतेजोमय राजोचित मूर्ति को छिपाकर रख पाना असम्भव था। इसी प्रकार वे हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक का परिदर्शन करते और राजा-महाराजाओं से लेकर निर्धन कृषकों तक को धर्मपथ का उपदेश देते हुए भ्रमण करने लगे।

वे जहाँ भी पहुँचते, वहाँ के पण्डित, राजा-महाराजा, राज-कर्मचारी आदि से मिलकर उन्हें हिन्दूधर्म का सच्चा मर्म समझाने का प्रयास करते। एक बार एक व्यक्ति ने उनसे पूछा कि वे एक संन्यासी होकर भी बड़े लोगों के साथ इतना क्यों मिलते-जुलते हैं? संन्यासी के लिए तो ऐसा नियम नहीं है और विशेषकर राजदर्शन तो उनके लिए बिल्कुल ही निषिद्ध है। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि यदि एक राजा के भीतर धर्मभाव का संचार हो सका, तो इससे हजारों-लाखों लोगों की धर्मरक्षा हो जाती है; और यदि एक पण्डित के मन में उच्च चिन्तन का स्रोत प्रवाहित किया जा सके, तो हजारों लोगों के लिए सुशिक्षा की व्यवस्था हो जाती है।

राजपुताना में स्थित अलवर के राजा थोड़े पाश्चात्य-भावापन्न हो गये थे। उनके प्रधानमंत्री स्वामीजी का असाधारण व्यक्तित्व देखकर मुग्ध थे। उन्होंने सोचा कि सम्भव है स्वामीजी की कृपा से राजा का चरित्र बदल जाय, अत: वे उन्हें राजा के पास ले गये। राजा ने स्वामीजी से मिलते ही प्रश्न किया, "आप इतने विद्वान् और तेजस्वी व्यक्ति हैं; परन्तु कोई कामकाज न करके संन्यासी बने क्यों घूमते हैं?" स्वामीजी ने कहा, "आप यहाँ के राजा हैं। प्रजा के हित के कार्यों में लगे रहना आपका कर्तव्य है। परन्तु आप अंग्रेज साहबों के साथ शिकार आदि तुच्छ मन-बहलावों में अपना समय क्यों बरबाद करते हैं?" उत्तर सुनकर राजा अवाक् रह गये और जरा-सा भी नाराज हुए बिना बोले, "शायद मुझे अच्छा लगता है, इसीलिए ऐसा करता हूँ।" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "मुझे भी अच्छा लगता है, इसीलिए संन्यासी हुआ हूँ।"

महाराजा ने बताया कि मूर्तिपूजा पर उनका जरा भी विश्वास नहीं है; अत: उन्हें काठ, पत्थर या मिट्टी की प्रतिमा के प्रति श्रद्धा नहीं होती। पहले तो स्वामीजी ने बताया कि काठ की मूर्ति को भगवान न मानने में कोई बुराई नहीं, ईश्वर में विश्वास होना ही यथेष्ट है। इतना कहने के बाद उन्होंने एक व्यक्ति से अनुरोध किया कि कमरे में टँगा महाराजा का चित्र उतारकर उनके हाथ में दे दें। चित्र हाथ में लिए स्वामीजी ने प्रधानमंत्री से उस पर थूकने का अनुरोध किया। मंत्री महोदय स्वामीजी का अभिप्राय समझकर सन्न रह गये। वे चित्रलिखे-से खड़े रहे। तब उन्होंने अन्य लोगों से भी राजा के चित्र पर थूकने का अनुरोध किया। परन्तु उपस्थित लोगों में से कोई भी ऐसा करने का साहस जुटा न सका। अब स्वामीजी मुस्कराते हुए राजा की ओर उन्मुख होकर बोले, "देखिए महाराज, इसमें केवल काँच, कागज और रंग ही तो है! तो भी आपका चित्र होने के कारण इस तुच्छ वस्तु का इतना सम्मान है। और यदि कोई लकड़ी से भगवान की एक कल्पित मूर्ति का निर्माण करे, तो उसका कितना सम्मान होना चाहिए!" राजा को जीवन में कभी ऐसी बातें सुनने को नहीं मिली थीं। इन तेजस्वी संन्यासी का हर वाक्य उनकी चिरकाल से पोषित धारणाओं को बदल डालने लगा। काफी समय तक चर्चा करने के बाद स्वामीजी ने उनसे विदा ली।

खेतड़ी के राजा स्वामीजी के शिष्य बन गये। स्वामीजी के अमेरिका जाने का अधिकांश व्यय-भार उन्होंने ही स्वीकार किया था। राजा और उनके मंत्रीगण स्वामीजी को अनेक

उपहार देना चाहते थे, परन्तु स्वामीजी ने कुछ भी ग्रहण नहीं किया। उन दिनों वे रुपये-पैसे का स्पर्श तक नहीं करते थे।

स्वामीजी एक बार गाजीपुर पहुँचने के मार्ग में ताड़ीघाट स्टेशन जा रहे थे। ट्रेन में कुछ बनिये भी उनके साथ यात्रा कर रहे थे। यह सोचकर कि ऐसा सुन्दर और बलिष्ठ युवक धनोपार्जन न करके दूसरों के अन्न से पेट भरने के लिए संन्यासी बना है, वे लोग मन-ही-मन स्वामीजी पर बड़े नाराज थे। भयानक गर्मी पड़ रही थी; स्वामीजी भूख और विशेषकर प्यास से बड़ा कष्ट पा रहे थे। परन्तु सहानुभूति तो दूर, वे लोग व्यंग-विनोद के द्वारा उन्हें रास्ते भर चिढ़ाते रहे। स्वामीजी ने चुपचाप सब सहन किया। गाड़ी जब निर्दिष्ट स्टेशन पर पहुँची, तो स्वामीजी के साथ ही वे लोग भी नीचे उतरे। पैसे न दे पाने के कारण उनको स्टेशन के प्लेटफार्म पर स्थान नहीं मिला और वे भीषण गर्मी में बाहर आकर जमीन पर बैठ गये। वे बनिये मिठाइयाँ और ठण्डा पानी खरीद लाए और स्वामीजी के सामने आकर बोले, "यह देखो, हम लोग पैसे कमाते हैं, इसीलिए अच्छी-अच्छी चीजें खा रहे हैं। तुम धनोपार्जन नहीं करते, अत: सूखकर मरते रहो।" इस प्रकार वे तरह तरह की अंग-भंगिमा के साथ उपहास करते हुए उन्हें दिखा-दिखाकर खाने लगे। स्वामीजी मौन बैठे रहे। उसी समय एक व्यक्ति एक हाथ में ठण्डे जल का घड़ा, दूसरे में खाद्य पदार्थ और बगल में चटाई दबाए हुए बड़ी अधीरता के साथ स्वामीजी के पास आया और परम आत्मीयता सहित उन वस्तुओं को उनके सामने रखकर उन्हें प्रणाम करने लगा। स्वामीजी ने सोचा कि यह आदमी शायद किसी और के भ्रम में उनके पास आया है। परन्तु उसने कहा, "महाराज, यह सब मैं आप ही के लिए लाया हूँ।" बनिये यह सब देख रहे थे। उस व्यक्ति ने बताया, "मैं दोपहर को भोजन के बाद विश्राम कर रहा था, उसी समय मैंने सपने में श्री रामचन्द्र जी को देखा। वे आपको दिखाते हुए बोले, "ये मेरे परम भक्त हैं और भूख-प्यास से त्रस्त होकर स्टेशन पर बैठे हैं। तुम अविलम्ब जाकर उनकी सेवा करो।" मैंने इसे स्वप्न समझा और करवट बदलकर फिर सो गया। परन्तु आश्चर्य की बात! रामजी ने धक्का देकर मुझे जगा दिया। इसी प्रकार तीन बार होने पर मैं उठ गया और जितनी जल्दी हो सका थोड़ा-सा खाना बनाकर ले आया हूँ। स्वामीजी ने पूछा, "रामचन्द्र जी ने मेरी ही बात कही थी, किसी अन्य के बारे में नहीं, यह तुम्हें कैसे पता चला?" उसने उत्तर दिया, "महाराज, यह प्रश्न मेरे मन में भी उठा था, इसीलिए स्टेशन पर आकर मैंने चारों ओर तलाश किया: परन्तु और किसी को न पाकर मैं निश्चित रूप में समझ गया कि रामचन्द्र जी ने मुझे आपकी ही सेवा करने का आदेश दिया है।" यह कहकर वह स्टेशन के चौकीदार को बख्शीश देकर स्वामीजी को अन्दर ले आया और प्लेटफार्म पर छाया म चटाई को बिछाकर उन्हें बिठाया। फिर अपने साथ लाये हुए हुक्के में उसने तम्बाकू सजा दिया और उन्हें भोजन कराकर ठण्डा पानी पिलाया। भगवान की करुणा के बारे में सोचकर स्वामीजी अवाक् रह गये। वे बनिये लोग भी आश्चर्य में डूबकर पश्चात्ताप करने लगे।

स्वामीजी सम्पूर्ण भारत का भ्रमण करते हुए धर्मप्रचार करने लगे। राजा-महाराजाओं से लेकर साधारण कुली-मजदूरों तक को धर्मोपदेश देकर वे सबको अपनी ओर आकृष्ट करने लगे। रामनाद के महाराजा ने उन्हें साक्षात् शिव मानकर उनसे मंत्रदीक्षा प्राप्त की।

सारे भारत का भ्रमण करके स्वामीजी ने देखा कि निर्धनता और अज्ञान के फलस्वरूप पूरा देश मानो निर्जीव-सा हो गया है। धर्म के नाम पर लोग थोड़ा उत्साहित तो होते हैं, परन्तु वह उत्साह ज्यादा देर टिकता नहीं। दो-चार जन एक साथ मिलकर कोई कार्य नहीं कर पाते। ईर्ष्या और अन्धविश्वास से देश विनाश के गर्त में चला जा रहा है। शिक्षित लोग भी सामान्य आचार-अनुष्ठान को ही धर्म समझकर उन्हीं को जकड़े बैठे हैं और द्रुत वेग से ध्वंस के पथ की ओर चले जा रहे हैं। देश की जनता अपने आपको इतना हीन और दुर्बल समझती है कि कोई महान् कार्य प्रारम्भ करने का साहस ही नही जुटा पाती। ❖ **(क्रमशः)** ❖

सुग्रीव-चरित (३/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरो पर पण्डितजी ने 'सुग्रीव-चरित' पर कुल ३ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके तीसरे प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक है। – सं.)

पराजय का भी बड़ा महत्व है, इसमें एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है और वह यह कि जितने भी योद्धा हैं, वे तो युद्ध में कभी-न-कभी अवश्य हारे, पर इस पूरे युद्ध में सारे बन्दर-भालुओं में कोई यदि बिल्कुल भी नहीं हारा, तो वे हैं वृद्ध जाम्बवानजी। उन्हें देख मेघनाद ने तो कह भी दिया – जा, तुम्हें बूढ़ा समझकर मैने छोड़ दिया। तो इस पर जाम्बवानजी ने भी बड़ा अच्छा उत्तर दिया –

बूढ़ जानि सठ छाँड़िऊँ तोही। ६/७४/५
महि पछारि निजबल देखरायो। ६/७४/८

उसे पछाड़कर अपना बल दिखा दिया, बता दिया कि मुझे बूढ़ा समझ धोखे में न रहना, तुम जैसे जवानों के लिए अभी भी हम बहुत हैं। यह जाम्बवान की बलवत्ता है। याद रहे, जाम्बवानजी जब किसी से नहीं हारे। पहले सतयुग में भी वे थे और त्रेता व द्वापरयुग में भी थे। तीनों युगों में तीन घटनाएँ उनके साथ जुड़ी हुई हैं। स्वयं जाम्बवानजी ने ही समुद्र के तट पर बन्दरों को सतयुग की कथा सुनाते हुए कहा था – जब बालि के यज्ञशाला में भगवान वामन से विराट् बने, तब मैंने दो घड़ी में उनकी सात प्रदक्षिणाएँ की –

जबहिं त्रिबिक्रम भए खरारी।
तब मैं तरुन रहेउँ बल भारी।। ४/२९/८
बलि बाँधत प्रभु बाढ़ेउ सो तनु बरनि न जाइ।
उभय घरी महँ दीन्हीं सात प्रदच्छिन धाइ।। ४/२९

ये सतयुग के जाम्बवान हैं और त्रेतायुग वाले तो कहते हैं कि अब मैं बूढ़ा हो गया हूँ, पर जब मौका आता है तो मेघनाद को बता देते हैं कि तुम धोखे में न रहना; तुम्हारे लिए तो मैं अभी बूढ़ा नहीं हुआ हूँ। इसके पीछे मनोविज्ञान क्या है?

जाम्बवान ब्रह्मा के अवतार हैं और ब्रह्मा सृष्टि के कर्ता हैं। जहाँ कर्तृत्व होगा, वहाँ पर सात्विक अहंकार की सम्भावना तो बनी ही रहती है। जब कोई व्यक्ति किसी बहुत अच्छी वस्तु का निर्माण करता है, तो उसके मन में 'मैं निर्माता हूँ' – यह बात आती ही है और ब्रह्माजी की वह मनोवैज्ञानिक समस्या भगवान श्रीराम के विवाह में दीख पड़ी। जब प्रभु के विवाह का दिन आया, तो वे भी देवताओं के साथ जनकपुर आए, पर जनकपुर को देखकर वे बड़े निराश हुए, क्योंकि उनके मन में कहीं-न-कहीं यह गर्व छिपा था कि मैंने सृष्टि का निर्माण किया है और जनकपुर भी उसी का एक अंश है, जिसमें आज यह विवाह हो रहा है। पर वहाँ पहुँचकर ब्रह्माजी को सब कुछ देख बड़ा आश्चर्य हुआ – पूरे जनकपुर में ब्रह्माजी को अपना बनाया हुआ कोई पदार्थ ही नहीं दिखाई दिया –

बिधिहि भयउ आचरजु बिसेषी।
निज करनी कछु कतहुँ न देखी।। १/३१४/८

ब्रह्माजी के निराश होने पर तब शंकरजी ने उनसे एक बड़ी अच्छी बात कही। बोले – महाराज, जानते हैं आपको निराश क्यों होना पड़ा? – क्यों? बोले – "आप आए तो हैं विवाह देखने, पर किसका? – अपने माता-पिता का विवाह देखने आए हैं और खोज रहे हैं अपनी बनाई हुयी वस्तुएँ" –

सिवँ समुझाए देव सब जनि आचरज भुलाहु।
हृदयँ बिचारहु धीर धरि सिय रघुबीर बिआहु।। १/३१४

"यहाँ आप यह न देखें कि आपने क्या बनाया, बल्कि यह कि आपको किसने बनाया, तब आप समझ जाएँगे।" यही मूल बात है। मैंने क्या बनाया इस पर दृष्टि जाती है, तो अभिमान होता है और मुझे किसने बनाया इस पर दृष्टि जाने से अहंनाश होता है। भगवान का विवाह 'मैं की स्वीकृति' या अपने अहं को खोजने के लिए नहीं, उसे भूलने के लिए है।

वह गाथा आपने सुनी होगी। किसी मूर्तिकार को यह पता चल गया कि एक वर्ष बाद अमुक दिन उसकी मृत्यु होगी। तब उसने मृत्यु को, यमदूतों को धोखा देने के लिए अपनी बारह प्रतिमाएँ बनायीं। जब मृत्यु का क्षण आया, तो वह उन बारह मूर्तियों के बीच बैठ गया। वे इतनी विलक्षण प्रतिमाएँ थी कि यमदूत देखते रह गए कि वहाँ एक ही जैसे दिखने वाले तेरह व्यक्ति बैठे हुए हैं। यमदूत निराश होकर लौट गए और यमराज से बोले, "महाराज, वहाँ तो एक ही जैसे तेरह व्यक्ति बैठे हुए हैं, हम समझ नही सके कि उनमें से किसे लाना है!" तब यमराज ने अपने दूतों को एक मंत्र दे दिया। यमदूत फिर से आए और कहने लगे, "धन्य है वह मूर्तिकार, जिसने इतनी विलक्षण मूर्तियाँ बनाई हैं, मिल जाय तो हम उसके हाथ चूम लें।" मूर्तिकार खड़ा हो गया और बोला – "मैंने बनाई हैं।" उन्होंने कहा – "चलो, पकड़ में आ गए न!" तात्पर्य यह कि जहाँ कृतित्व की वृत्ति आयी, वही सबसे बड़ा संकट है। यह कैसे सम्भव है कि हम निर्माण करें और

हममें कृतित्व का अभिमान न हो। ब्रह्माजी की यही समस्या है। शंकरजी उन्हें इस समस्या से मुक्त होने की प्रेरणा देते हैं।

अब यह जो सरस्वती के पीछे ब्रह्माजी का भागना है, यह सुनकर बड़ी अश्लीलता का बोध होता है, बड़ा भद्दा-सा लगता है, सुनकर मन में एक प्रकार से वितृष्णा-सी होती है। पर गहराई से विचार करके देखिए। यह दुर्बलता तो प्रत्येक कृतिकार में दिखाई देती है। सरस्वती के पीछे ब्रह्मा का भागने का तात्पर्य यह है कि हम भी अपनी ही कृति के पीछे भागते हैं या नहीं? अपनी कविता के पीछे, अपने भाषण के पीछे, अपनी कला के पीछे और अपनी योग्यता के पीछे? यही तो है सरस्वती के पीछे ब्रह्माजी का भागना। जब उन्होंने सरस्वती के पीछे भागना आरम्भ किया, तब शंकरजी ने ब्रह्माजी के पाँचवें सिर को काट लिया। पुराणों में कहा गया है कि पहले ब्रह्माजी के पाँच सिर थे। इसका सांकेतिक अभिप्राय यह है कि जब हम अपनी कृति के प्रति आसक्त होकर अपने ही निर्माण के पीछे भागने लगते हैं, तो एक सिर कट ही जाना चाहिए। यह पाँचवाँ सिर कर्तृत्व-अभिमान का सिर है, 'मैं इसका निर्माता हूँ' – यह इसकी वृत्ति है। ऐसी स्थिति में जाम्बवान की सबसे बड़ी समस्या क्या है? सतयुग में भी उनका यह स्वभाव सामने आया। बलि की यज्ञशाला में भगवान वामन के रूप में आए, तब उन्होंने परिक्रमा नहीं की, जब विराट् बनें तब परिक्रमा की। विराट् भगवान थे, तो क्या वामन भगवान नहीं थे? पर उन्हें लगा कि यदि हम वामन की परिक्रमा करेंगे, तो इसमें हमारी विशेषता क्या? नया चमत्कार तो तब है जब भगवान विराट् हो जायँ, तब मैं दो घड़ी में उनकी सात परिक्रमा कर दूँ, तभी तो पता चलेगा कि मै कितना शक्तिशाली हूँ! उनके स्वभाव में यह 'मैं' सतयुग में भी था।

जब त्रेतायुग आया तो उन्होंने सारे राक्षसों को चुनौती देते हुए मानो कहा कि हमने ही तुम्हें बनाया और हमें ही तुम हराओगे? बोले, "मेघनाद, तुम समझते क्या हो? तुम मुझे नहीं हरा सकते, तुममे इतनी सामर्थ्य नही है।" जाम्बवान किसी से हारे ही नहीं। तब भगवान के मन में करुणा आई। प्रभु ने मुस्कुराकर सोचा कि जाम्बवान ने तो बड़ी सेवा की है, इनको पुरस्कार तो मिलना ही चाहिए।

भगवान जब द्वापर में श्रीकृष्ण बने, तब उन्होंने जाम्बवान को बड़ा विचित्र पुरस्कार दिया। वह कथा आपने पढ़ी या सुनी होगी। भागवत की कथा है। भगवान श्रीकृष्ण पर स्यामन्तक मणि की चोरी लगी और वे उस गुफा में पहुँचे जहाँ जाम्बवान की पुत्री जाम्बवती के हाथ में वह मणि थी। श्रीकृष्ण ने उससे मणि लेनी चाही, तो जाम्बवान की नींद खुल गयी। उन्होने श्रीकृष्ण को चुनौती दी। भगवान श्रीकृष्ण और जाम्बवान के बीच अट्ठाइस दिनों तक युद्ध चलता रहा। तब भगवान ने उन्हें त्रेतायुग की सेवाओं का ऐसा विचित्र पुरस्कार दिया, अट्ठाइस दिनों तक उनकी इतनी पिटाई की कि सारी हड्डी-पसली ढीली पड़ गयी, दर्द से कराहने लगे। तब जाम्बवानजी पहचान गए – "ओहोऽ! आप तो हमारे प्रभु हैं। मेरी कन्या जाम्बवती को स्वीकार कीजिए।" उन्होंने प्रभु को उलाहना दी कि उन्होंने ऐसा क्यों किया? प्रभु ने कहा – "जाम्बवान, जब मैंने देखा कि तुम्हें कोई नहीं हरा सकता और बिना हारे, बिना असमर्थता का बोध हुए कोई व्यक्ति समर्पित नहीं हो सकता, तब मैंने सोचा कि जब तुम्हें कोई नहीं हरा सकता, तो मुझे ही तुम्हारे उपर थोड़ा बलप्रयोग करना पड़ेगा। ईश्वर स्वयं जब हार का अनुभव कराते हैं, तब जाम्बवती का समर्पण होता है। इसका अभिप्राय यह है कि जब तक सामर्थ्य का, विजय का बोध है, तब तक जीवन में समर्पण की वृत्ति नहीं आएगी, समर्पण नहीं होगा। यह जो जाम्बवान की बेटी जाम्बवती है, यह हमारे अन्तःकरण की समर्पणात्मिका वृत्ति है। जब हम भगवान के सामने अपनी असमर्थता का, पराजय का अनुभव करते हैं, तब यह समर्पण की वृत्ति आती है। इसलिए पराजय के बाद जब सही दृष्टि से देख सकें, अनुभव कर सकें, तो वह असमर्थता और पराजय भी हमारे लिए वरदान बन सकती है।

यह जो सत्य है, वह सुग्रीव के जीवन में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। बालि के समक्ष सुग्रीव की जो पराजय है, उस पराजय का ही तो परिणाम है, भगवान को पा लेना। उस पराजित सुग्रीव ने भगवान को पहले पाया और विजेता बालि ने भगवान को पाया भी तो तभी पाया, जब अपने को पराजित अनुभव किया। जब तक वह भगवान को शास्त्रार्थ के लिए चुनौती देता रहा, तब तक उस पर भगवान की करुणा नहीं हुयी, पर जब बालि ने भगवान राम से कहा –

सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोरि। ४/९

यह जो असमर्थता की अनुभूति हुयी, उसे उसने ईश्वर से जोड़ दिया। इसे यों कह सकते है कि सामर्थ्य की अनुभूति हमें अहंकार से जोड़ देती है और असमर्थता की अनुभूति हमे ईश्वर से जोड़ देती है। सुग्रीव में यह असमर्थता का बोध है, इसीलिए भक्तिरूपा सीताजी ने चिह्न देकर मानो कहा कि सुग्रीव तुम्ही इसके उपयुक्त पात्र हो। मेरा यह वस्त्र ले जाकर प्रभु को अर्पित करो, प्रभु मुझे आकर छुड़ा लेंगे। इस तरह से सुग्रीव को पहला प्रमाणपत्र तो श्रीसीताजी से मिला। और दूसरा? जब भगवान श्रीराम शबरी के आश्रम में जाते है। सीताजी खो गयी है। उनका खो जाना तो राम की वास्तविक समस्या नही है। उन्होंने तो नाटक किया, पर हमारी तो यह वास्तविक समस्या है। सीताजी के खो जाने का क्या तात्पर्य है? इतिहास की दृष्टि से वे महाराज जनक की पुत्री हैं, पर वेदान्त की भाषा में वे मूर्तिमति शान्ति हैं। –

शान्तिसीतासमानीता आत्मारामो विराजते।

भक्तों की भाषा मे वे साक्षात् भक्ति हैं। भगवान राम की

भाषा में वे – आदिशक्ति रूपी उनकी माया हैं। पुराणों की भाषा में वे महालक्ष्मी की अवतार हैं। वस्तुत: वे चाहे जो भी हों, इनकी आवश्यकता तो संसार में सभी को है। पर जब हम रावण की तरह उन्हें पाने की चेष्टा करते हैं, तो हमारे जीवन का वही परिणाम होता है, जो रावण का हुआ। उनको पाने की सही पद्धति बताने के लिए ही प्रभु ने सीताजी को खोजने का अभिनय किया। प्रभु तो सर्वज्ञ हैं, सब कुछ जानते हैं, पर वे सीताजी को खोजने का अभिनय करते हुए शबरी के आश्रम में जाते हैं। गिद्धराज से समाचार मिल चुका है कि सीताजी का हरण करके रावण दक्षिण की ओर ले गया है, पर वे शबरी से पूछते हैं – सीताजी कहाँ हैं? भगवान राम को पता है, तो भी पूछ रहे हैं कि सीताजी को पाने का उपाय क्या है। भगवान का वह प्रश्न आपने पढ़ा होगा। वे पूछते हैं – आप कृपा करके बताइए कि सीताजी की सुधि क्या है –

जनकसुता कइ सुधि भामिनी ।
जानहि कहु करिबर गामिनी ।। ३/३६/१०

विस्तार से 'सुधि' शब्द की व्याख्या करने को अभी समय नहीं है, परन्तु 'सुधि' शब्द का अर्थ जानने की अपेक्षा सुधि महत्त्वपूर्ण है। गिद्धराज से सन्देश पाकर भी प्रभु शबरी से पूछते हैं – आप सीताजी की सुधि बताइए। शबरीजी संकोच से गड़ जाती हैं और कहती हैं – प्रभो, मैं बड़ी लज्जा से गड़ी जा रही हूँ कि सर्वज्ञ ईश्वर मुझसे पूछ रहा है कि सीताजी कहाँ हैं, पर नाटक में जब मुझे यह काम सौंप ही दिया गया है, तो मैं उत्तर भी दूँगी और उन्होंने उत्तर दिया – आप पंपा सरोवर की यात्रा कीजिए, जहाँ सुग्रीव से मित्रता होगी –

पंपा सरहि जाहु रघुराई ।
तहँ होइहि सुग्रीव मिताई ।। ३/३६/११

विचित्र बात है – हनुमानजी पहले मिलेंगे या सुग्रीव? शबरीजी को तो कहना चाहिए था कि आप पंपासर की यात्रा कीजिए, वहाँ आपको हनुमानजी मिलेंगे और वे सीताजी का पता लगायेंगे, पर इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या होगा कि उन्होंने तो हनुमानजी का नाम तक नहीं लिया, लिया तो बस सुग्रीव का। इसका अभिप्राय है कि सीताजी ने भी अपने संदेशवाहक के रूप में सुग्रीव को ही चुना और शबरीजी ने भी उन्हीं का नाम लिया। इसका अर्थ है कि यदि ऐसा लगे कि सीताजी हमारे जीवन से खो गयी हैं, तो हमें शबरीजी के पास जाना चाहिए। शबरीजी कौन हैं? भगवान कहते हैं –

नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई ।
नारि पुरुष सचराचर कोई ।।
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें ।
सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें ।। ३/३६/६-७

शबरीजी के जीवन में नौ प्रकार की भक्ति विद्यमान हैं। भगवान का अभिप्राय यह है कि जब भक्ति खो गयी है तो जहाँ नौ प्रकार की भक्ति है, वहीं तो पता चलेगा और शबरीजी कह देती हैं 'सुग्रीव'। हनुमानजी का नाम क्यों नहीं लेती? कहती हैं – प्रभो, हनुमानजी के द्वारा सीताजी का पता लगा लेने में चमत्कार नहीं है, चमत्कार तो तब है जब सुग्रीव जैसा व्यक्ति भी भक्ति की खोज में, भक्ति को पाने के लिए महानतम साधक बने। असमर्थ की भूमिका को अधिक महत्त्व देने के लिए ही शबरीजी सुग्रीव का नाम लेती हैं। उसके बाद? हनुमानजी ने अन्तिम और बड़ा अनोखा प्रमाण पत्र दिया। तीनों सुग्रीव का ही नाम लेते हैं। शबरीजी ने कहा, सुग्रीव से मित्रता होगी। सीताजी ने भी सुग्रीव को ही अपना चिन्ह दिया। जब सुग्रीव ने हनुमानजी से कहा कि पता लगाकर आइए कि ये कौन आ रहे हैं, तो आध्यात्मिक सन्दर्भ में इसका अभिप्राय है कि यह भक्ति-साधन का एक क्रम है।

सीताजी की खोज भी एक क्रम है और वह क्रम है कि सबसे पहले हमारे जीवन में ईश्वर का माहात्म्य-ज्ञान होना चाहिए। जब हम ईश्वर को ईश्वर के रूप में पहचानेंगे, जब हमें उसके महत्व का ज्ञान होगा, तब हमारे अन्त:करण में ईश्वर के प्रति भक्ति का उदय होगा। देवर्षि नारद भक्तिसूत्र में कहते हैं, जब भी भक्ति का उदय होता है, ईश्वर का माहात्म्य-ज्ञान होने पर ही होता है। अब इस माहात्म्य-ज्ञान के लिए सुग्रीव ने किसका आश्रय लिया? हनुमानजी का, जो शिवावतार रूप में मूर्तिमान विश्वास हैं। इसका अभिप्राय है कि सांसारिक वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए तो हमें बुद्धि चाहिए, पर ईश्वर को जानने के लिए विश्वास की जरूरत है। यह विश्वास कैसा होता है? मानकर जानना एक बात है और जानकर मानना यह दूसरी। हनुमानजी ने जानकर माना या मानकर जाना? वे साक्षात् विश्वास हैं। बुद्धिमता यानी जानकर मानना और विश्वास यानी मानकर जानना। संसार के सन्दर्भ में पहले जानिए और बाद में मानिए, पर ध्यान रहे, ईश्वर के सन्दर्भ में पहले मानिए और बाद में जानने की चेष्टा कीजिए।

इसलिए हनुमानजी की विजय क्या है? हनुमानजी ब्राह्मण का वेष बनाकर प्रभु के पास गए और उनको सिर झुकाकर प्रणाम किया। यह देखकर प्रभु के होठों पर हँसी आ गयी। बाद में कभी हनुमानजी ने पूछा – प्रभो, जब मैंने पहली बार आपके चरणों में प्रणाम किया, तो आपके होठों पर हँसी क्यों आ गयी थी, इसमें कुछ तो रहस्य होगा? प्रभु ने कहा – हनुमान, मुझे यही लगा कि नाटक में तुम्हारे अभिनय में अभी कुछ कमी है। – क्या? बोले – जब तुम ब्राह्मण बनकर आए थे, तो मेरा प्रणाम ग्रहण करने के लिए थोड़ा रुकना तो था, पर तुम तो स्वयं प्रणाम करने लगे। यह कमी है या नहीं? हनुमानजी ने कहा – "प्रभो, यदि उलटे मैं ही कहूँ कि मैंने आपको प्रणाम किया, तो आप तो मर्यादा पुरुषोत्तम हैं और आप यदि मुझे सचमुच ब्राह्मण मानते होते, तो क्षत्रिय के रूप

में आप मुझे प्रणाम कर सकते थे, पर महाराज यहाँ तो दोनों का खेल अनोखा चल रहा है। आपने भी वेष धारण किया है और मैंने भी। ब्राह्मण का वेष धारण करके मैंने आपको प्रणाम किया, इसमें क्या कोई भूल हुई है? क्या ब्राह्मण का यही लक्षण है कि जो किसी को प्रणाम न करे, वही ब्राह्मण है? यह तो मैंने कहीं नहीं सुना। आप ही बताइए कि ब्राह्मण की सही परिभाषा क्या है?'' प्रभु ने कहा – ब्राह्मण की सही परिभाषा तो है – **ब्रह्म जानाति इति ब्राह्मण:** – जो ब्रह्म को जाने वह ब्राह्मण है। हनुमानजी ने कहा – ''प्रभो, मैंने तो आपको ब्रह्म समझकर ही प्रणाम किया, क्षत्रिय समझकर नहीं। यदि मैंने ब्रह्म को समझ लिया तो ब्राह्मणत्व का सच्चा अर्थ तो यही है। यह नहीं कि अकड़कर खड़ा हो जाय और कहे कि तुम क्षत्रिय हो, चलो हमें प्रणाम करो। ब्राह्मणत्व का सच्चा अर्थ तो यही है कि वह ब्रह्म को, ईश्वर को पहचान ले और पहचान लेने पर उसमें यही वृत्ति आएगी कि ईश्वर के सामने हमारा सिर झुक जाय।'' **माथ नाइ पूछत अस भयउ** का क्या अर्थ है? मस्तक बुद्धि का केन्द्र है। उस मस्तक को जब हम भगवान के सामने झुका देते हैं, तो उसका अभिप्राय है – ईश्वर के चरणों में बुद्धि का समर्पण। ईश्वर को हनुमानजी ने पहले पहचाना। पहले उन्होंने ब्रह्म मान लिया और मानकर फिर पूछ दिया –

को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा।
छत्री रूप फिरहु बन बीरा ।। ४/१/७

प्रभु तो बड़े कौतुकी हैं, हनुमानजी ने जब प्रश्न किया, तो उन्होंने सोचा कि जब इतना योग्य विद्यार्थी आया है, तो जरा इसकी परीक्षा ले लेनी चाहिए। बोले – मेरा परिचय जानना चाहते हो? मेरा परिचय तो यही है कि मैं –

कोसलेस दसरथ के जाए।
हम पितु बचन मानि बन आए ।।
नाम राम लछिमन दोउ भाई।
संग नारि सुकुमारि सुहाई ।।
इहाँ हरीरि निसिचर बैदेही।
बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही ।।
आपन चरित कहा हम गाई।
कहहु बिप्र निज कथा बुझाई ।। ४/२/१-४

अपना परिचय जानबुझकर ऐसा दे दिया कि ईश्वरत्व का कोई भी लक्षण पास भी न फटकने पाए। ईश्वर सब का पिता है, तो बोले – मेरे पिता दशरथ हैं। हनुमानजी के मुँह से निकल गया था – **की तुम्ह अखिल भुवनपति** – क्या आप संसार के स्वामी हैं? ईश्वर की आज्ञा सब मानते हैं, प्रभु ने इसके विपरीत उत्तर दिया। उन्होंने कहा – **हम पितु बचन मानि बन आए** – ब्राह्मण देवता, कहाँ आप मुझे भुवनपति बता रहे हैं! अरे, भुवनपति कौन कहे, अयोध्यापति बननेवाला था, वह भी नहीं बन पाया; पिताजी ने मुझे वन भेज दिया।''

प्रभु ने अपना नाम बताया राम और छोटे भाई का नाम लक्ष्मण। ब्रह्म कैसा है? – ब्रह्म अरूप और अनाम है –

एक अनीह अरूप अनामा। १/१३/३

प्रभु ने हँसकर कहा – ''देखो, मेरा रंग साँवला है और इसका गोरा। यह अरूप हुआ या सरूप? और ब्रह्म एक है कि दो? ब्रह्म तो **एकमेवाद्वितीयम्** है और तुम्हें हम दो दिखाई दे रहे हैं।'' हनुमानजी नें पूछा – **भंजन धरनी भार** – पृथ्वी का भार उतारने आए हैं? प्रभु ने व्यंग्य किया – **इहाँ हरी निसिचर बैदेही** – ''अरे, मेरी पत्नी पृथ्वी की बेटी है और रावण ने उसे चुरा लिया। मैं तो उन्ही की रक्षा नहीं कर पाया, तो पृथ्वी का भार क्या उतारूँगा! मैं तो किसी ऐसे व्यक्ति की खोज मे हूँ, जो मेरा ही भार उठा सके।''

अन्त में यही हुआ भी। प्रभु हनुमानजी की पीठ पर बैठ गए और बोले, ''बस यही तो मैं खोज रहा था। तुम पूछ रहे थे कि क्या मैं संसार का भार उतारने आया हूँ, पर मै तो पूछ रहा था कि मेरा भार कौन उठाएगा? तुम मिल गए, चलो अच्छा हुआ।'' इस तरह से अनोखे शब्दों मे प्रभु ने अपना परिचय दिया। दूसरा होता तो निराश होकर लौट जाता कि इनमें तो ब्रह्म का एक भी लक्षण नहीं है, यह कैसा ईश्वर है! पर हनुमानजी का विश्वास! ज्यों ही प्रभु के वाक्यों को सुना, विश्वास की परीक्षा हो गयी। हँसते हुए व्यक्ति को देखकर ईश्वर की धारणा होना सरल है, पर रोते हुए ब्रह्म को देखकर ब्रह्मत्व में आस्था बनी रहे, यह बड़ा कठिन है। शंकरजी ने रोते हुए राम को देखकर उन्हें ईश्वर माना था। प्रभु ने पग-पग पर अपनी असमर्थता का वर्णन किया है। आज भी वही हुआ, पर हनुमानजी ने क्या किया? – हनुमानजी प्रभु के चरणो मे गिर पड़े और उन्हें जोरों से पकड़ लिया –

प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना ।। ४/२/५

प्रभु ने कहा, ''तुम्हारा तो सारा व्यवहार ही उल्टा लग रहा है। आए तो पहले प्रणाम कर दिया और जब मैंने मनुष्य के रूप में अपना परिचय दिया तो तुमने चरण पकड़ लिये। नियम तो यह है कि जब हम किसी को सम्मान देते हैं तो उन्हे प्रणाम करते हैं और अधिक सम्मान देते हैं तो उनके चरण पकड़ लेते हैं। पर तुमने ब्रह्म समझकर तो दूर से प्रणाम किया और जब मैंने अपना परिचय मनुष्य के रूप दिया तो मेरे चरण पकड़ लिए।'' हनुमानजी बोले – प्रभो, मुझे बड़ा सन्तोष हुआ। – क्या? बोले – ब्रह्म का परिचय जब शास्त्रो में दिया गया, तो यह भी कहा गया कि वह मन-बुद्धि-वाणी से परे है, उसे पकड़ा नही जा सकता, पर आपने जब नया परिचय दिया तो लगा यह तो पकड़ में आनेवाला ईश्वर है। अब तक का ईश्वर पकड़ से परे था। प्रभो, जो पकड़ से परे होगा, उसे जीव कैसे पकड़ेगा? आज पकड़ में आनेवाले ईश्वर को पाकर मुझे

बड़ी प्रसन्नता हुई। तब क्या हुआ? हनुमानजी और प्रभु का मिलन हुआ। हनुमानजी ने सुग्रीव का परिचय दिया। हनुमानजी को सुग्रीव का स्मरण बना हुआ है।

हनुमानजी और सुग्रीव के सन्दर्भ में पौराणिक कथा यह है कि हनुमानजी ने सूर्य से विद्या प्राप्त की। जब उन्होंने सूर्य से गुरुदक्षिणा माँगने का अनुरोध किया तो वे बोले – मेरे पुत्र सुग्रीव की रक्षा करो। उसी कारण हनुमानजी अपने गुरुपुत्र सुग्रीव को गुरुवत् मानकर अतीव सम्मान देते हैं – **गुरुवत् गुरुपुत्रेषु** – और सतत उनकी सेवा में सन्नद्ध रहते हैं। जैसी गुरुदक्षिणा हनुमानजी ने दी, वैसी मिल जाए, तो गुरु भी धन्य हो जायँ – गुरुदक्षिणा में साक्षात् ईश्वर को ही देना। सुतीक्ष्णजी ने भी यही किया। सुतीक्ष्णजी प्रभु से मिले, प्रभु बोले – हम यात्रा में हैं, अब चलेंगे। सुतीक्ष्णजी ने कहा – मुझे भी साथ ले चलिए। उन्होंने भी अपने गुरु अगस्त्यजी से दक्षिणा माँगने को कहा था। गुरु ने कहा – नहीं चाहिए। वे बोले – नहीं महाराज, मेरे सन्तोष के लिए माँगिए। उन्होंने कहा – मुझे ईश्वर से मिला दो। सबसे बड़ी गुरुदक्षिणा यही है। सुतीक्ष्णजी ने सोचा – यही मौका है, पर उपाय क्या है? बोले –

अब प्रभु संग जाउँ गुर पाहीं।
तुम्ह कहँ नाथ निहोरा नाहीं ।। ३/१२/३

सुतीक्ष्णजी बड़े चतुर निकले, अगस्त्यजी के आश्रम में प्रभु के पहुँचने पर वे बोले – "रुकिए। मैं पहले गुरुजी को सूचना तो दे दूँ, ताकि वे आपसे मिलने की स्थिति में आ जायँ।" तात्पर्य यह कि आप स्वयं चले जायेंगे तो मैं गुरुदक्षिणा कहाँ दे पाऊँगा। अतः तत्काल जाकर गुरुजी को सूचना दी –

नाथ कोसलाधीस कुमारा।
आए मिलन जगत आधारा ।। ३/१२/७

हनुमानजी ने भी प्रभु से प्रस्ताव किया था – महाराज, आप चलकर सुग्रीव से मित्रता करें। हनुमानजी ने भगवान राम को जो सुग्रीव का परिचय दिया, वह बड़ा अनोखा था। कहना तो यह था कि बेचारा सुग्रीव एक दीन-हीन असमर्थ व्यक्ति है, लेकिन उन्होंने परिचय देते हुए कहा – महाराज, पर्वतों पर बन्दरों के राजा रहते हैं – **नाथ सैल पर कपिपति रहई**। बड़ी विचित्र बात है। सुग्रीव कहाँ के राजा हैं? उसे तो बालि ने मारकर भगा दिया है। न राज्य है, न सम्पत्ति और पत्नी भी छिन गयी है। पर हनुमानजी कहते हैं कि पर्वत पर बन्दरों के राजा रहते हैं। दूसरा परिचय देते हैं – वह सुग्रीव आपका दास हैं – **सो सुग्रीव दास तव अहई**। दास तो इतने बड़े थे कि देखकर भागने की योजना बना रखी थी। और तब हनुमानजी ने प्रस्ताव किया – आप चलकर उनसे मित्रता कीजिए –

तेहि सन नाथ मयत्री कीजे।
दीन जानि तेहि अभय करीजे ।। ४/४/३

प्रभु को हँसी आ गयी। बड़ा विचित्र परिचय है। – "एक ओर तो कहते हो – वह बन्दरों का राजा है, दूसरी ओर कहते हो – वह दीन है। यदि राजा है तो उसका राज्य कहाँ है?" हनुमानजी बोले – "प्रभो, यदि किसी अन्य को परिचय देना होता, तो इन्हें मैं राजा नहीं कहता, पर आपसे तो मैं आपकी ही भाषा में बात करूँगा। आपके शब्दकोष में राजा का जो अर्थ है, वही यहाँ पर घट रहा है।" – क्या? – जब कैकेयीजी की आज्ञा से आपका राज्य छीन लिया गया, तब कौशल्याजी के पास जाकर उनसे आपने यह नहीं कहा कि आपका राज्य छिन गया। आपके मुँह से तो निकला –

पिताँ दीन्ह मोहि कानन राजू। २/५३/६

– "पिता ने मुझे वन का राज्य दिया है। राज्य छिन जाने के बाद भी आपको लगा कि राज्य पा गए। महाराज, जैसे आप सब कुछ छोड़कर भी राजा हैं, वैसे ही ये भी राजा हैं। अपने शब्दकोष के अनुसार ही आप इन्हें भी राजा ही समझिए।"

हनुमानजी भगवान का प्रभाव भी जानते हैं और स्वभाव भी। वे बोले, "प्रभो, संसार में सेवा लेने के लिए लोगों को सेवक की जरूरत होती है और मैं जानता हूँ कि आप भी सेवकों की खोज में रहते हैं, पर सेवा लेने के लिए नहीं।" – तो किसलिए? हनुमानजी बोले, "प्रभो, संसार में जब आप ढूँढ़ने लगे, तो अनेक लोग आगे आये। आपने कहा – सेवा करो। – क्या सेवा करें? आपने कहा – यही सेवा करो कि मैं तुम्हारी जो भी सेवा करूँ, उसे चुपचाप स्वीकार करो, व्यवधान मत डालना। बड़े अनोखे हैं आप! आपने सोचा – यदि मैं सेवक बनकर सेवा करूँगा, तो लोग मना कर देंगे; कहेंगे – हम आपसे सेवा नहीं लेंगे। महाराज, यदि आपको सेवा करने वाले सुग्रीव की जरूरत होती, तो मैं सुग्रीव का नाम न लेता, पर आपको तो सेवा लेनेवाला सेवक चाहिए। इसके लिए सुग्रीव से बढ़िया सेवक आपको कोई नहीं मिलेगा। आप उनके लिए जितना भी करना चाहें, कीजिए, बहुत अच्छा रहेगा। फिर कहते हैं – आप चलकर उनसे मित्रता कीजिए – **तेहि सन नाथ मयत्री कीजे।** – मित्रता वे करें या मैं करूँ? हनुमानजी बोले – नहीं, समर्थ होते तो वे मित्रता करते; वे असमर्थ हैं। प्रभु के मन में विनोद भरा प्रश्न था – तुम सुग्रीव को नीचे क्यों नही बुला लेते? हनुमानजी ने कहा – "महाराज, जीवन भर भागते-भागते वे इतने थक गये हैं कि अब एक पग भी चलने की शक्ति उनमें नहीं है। अब तो आप ही कृपा करके चलिए।" हनुमानजी का अभिप्राय था कि सुग्रीव यदि आपसे मित्रता करेंगे, तो मित्रधर्म का पालन उन्हे करना पड़ेगा और यदि आप सुग्रीव को मित्र बनायेंगे, तो वे चाहे मित्रधर्म का पालन न कर सके, पर आपको तो करना ही पड़ेगा। यही असमर्थ की सबसे बड़ी विजय है।

प्रभु बड़े आश्चर्यपूर्वक बोले – तुम सुग्रीव की इतनी चिन्ता कर रहे हो, अपने विषय में क्यों नहीं सोचते? हनुमानजी ने कहा – उपाय तो निकल आया। – क्या? बोले – सुग्रीव हैं आपके दास, उन्हें आप मित्र बना लीजिए। – इसमें तुम्हारा क्या लाभ होगा? बोले – "महाराज, जब दास को मित्र बना लेंगे तो संसार में आपकी जयध्वनि होगी। इसमें मेरा स्वार्थ यह है कि जब दास सुग्रीव मित्र बन जाएँगे, तो दास वाला पद खाली हो जाएगा और वह आप मुझे दे दीजिए। पद खाली होगा, तभी तो मुझे मिलेगा?"

भगवान राम और लक्ष्मणजी जब हनुमानजी के पीठ पर बैठे, तो किसी ने भगवान से पूछा – प्रभो, आपके विवाह के समय काम जब घोड़ा बनकर आया तब आप उसके पीठ पर बैठ गए और आज कामारि शंकरजी हनुमानजी बनकर आए तो आप उनकी पीठ पर भी बैठ गए। काम और कामारि – दोनों की ही पीठ पर। दोनों को आपने कैसे स्वीकार किया?"

प्रभु बोले, "भाई, दोनों में एक अन्तर है। यह मत देखो मैं किसकी पीठ पर बैठा, बल्कि यह देखो कि पीठ पर बैठने का उद्देश्य क्या है? ध्यान रहे, विवाह के समय जब मैं घोड़े पर बैठा था तो लक्ष्य था सीताजी को पाना और जब हनुमानजी के पीठ पर बैठा हूँ, तब भी लक्ष्य है सीताजी को पाना। मुख्य लक्ष्य है – भक्ति को पाना, काम पर बैठकर मिले या कामारि पर। दोनों की स्वीकृति है, दोनों की महत्ता है। लक्ष्य की महत्ता की दृष्टि से मैंने दोनों को स्वीकार किया है।"

पर गहराई से देखें तो दोनों में थोड़ा भेद किया गया है। – क्या? – प्रभु जब घोड़े पर बैठे, तो उन्होंने कसकर लगाम पकड़ लिया और जब वे हनुमानजी के पीठ पर बैठे, तब तो लगाम थी ही नहीं। लगाम पकड़ने का अर्थ क्या है? प्रभु ने घोड़े से कहा – मैं जब जिधर कहूँ, उधर चलो और हनुमानजी से कहा – जिधर तुम कहो, उधर चलूँ। काम को नियंत्रित करने के लिए लगाम की जरूरत है, कामारि हनुमानजी से कह दिया – भाई, मैं तो भक्तों के अधीन हूँ, तुम जहाँ कहोगे, वहीं चलूँगा। परिणाम यह होता है कि सुग्रीव ने इतनी सरलता से भगवान को पाया और ईश्वर ने उन्हें मित्र बनाया।

'विनय-पत्रिका' में गोस्वामीजी इसकी बड़ी आध्यात्मिक व्याख्या करते हैं – कर्म रूपी बालि द्वारा जीव रूपी सुग्रीव सताया गया है। कर्म से संत्रस्त व्यक्ति कैसे शरणागति के द्वारा कर्म पर विजय प्राप्त करें, यह संकेत बालि और सुग्रीव के प्रसंग में किया गया है। बालि का वध करके भगवान श्रीराघवेन्द्र किष्किन्धा का राज्य सुग्रीव को दे देते हैं। उनकी कृपा की पराकाष्ठा तब होती है, जब सुग्रीव राज्य और भोग-विलास पाकर प्रभु को भूल जाते हैं। भगवान श्रीराम हनुमानजी और लक्ष्मणजी को प्रेरणा देते हैं कि सुग्रीव को जगाओ। ये दोनों सुग्रीव को जगाते हैं। इसका अभिप्राय क्या है? प्रभु को सुग्रीव की कितनी चिन्ता है! जैसे नन्हा बच्चा बहुत देर तक सोता रह जाय, तो माँ उसे जगाने की चेष्टा करती है, वैसे ही सुग्रीव को जगाने के लिए प्रभु अपने दो महानतम भक्तों को भेजते हैं। जब हनुमानजी और लक्ष्मणजी सुग्रीव को लेकर आए, तो प्रभु की करुणा की पराकाष्ठा हो गयी। भगवान ने कुछ पूछा तो नहीं, पर सुग्रीव ने ही सफाई देते हुए कहा – प्रभो, जो काम-क्रोध-लोभ को जीत ले, वह तो आप ही के समान है –

बिसय बस्य सुर नर मुनि स्वामी ।
मैं पावँर पसु कपि अति कामी ।।
नारि नयन सर जाहि न लागा ।
घोर क्रोध तम निसि जो जागा ।।
लोभ पाँस जेहि गर न बँधाया ।
सो नर तुम्ह समान रघुराया ।। ४/२१//३-५

प्रभु मुस्कुराए। सुग्रीव को लगा कि प्रभु व्यंग्य भरी हँसी में पूछ रहे हैं – जब तुम मेरे मित्र हो तब तुम्हें मेरे समान बनना चाहिए था। पर सुग्रीव ने ऐसा उत्तर दे दिया कि उन्होंने हार मान ली। सुग्रीव बोले – प्रभो, बात तो बहुत बढ़िया है, पर ऐसा साधना से नहीं, बल्कि आपकी कृपा से ही होता है –

यह गुन साधन तें नहिं होई ।
तुम्हरी कृपाँ पाव कोइ कोई ।। ४/२१/६

"महाराज, बालि को मैंने मारा या आपने? मुझमें तो बालि को मारने की शक्ति थी नहीं। आप जो मुझे मिले, अपनी कृपा से मिले या मेरे प्रयत्न से? मुझमें तो कोई साधन था नहीं? प्रभो, जब सारा कार्य आपकी कृपा से हुआ, तो क्या बुराइयों को जीतने का भार मुझ पर है? आपने ही कृपा नहीं की होगी, इसीलिए ये बुराइयाँ हैं।" इस पर भगवान ने उन्हें फटकार नहीं दिया कि तुम उल्टे मुझ पर ही दोषारोपण कर रहे हो, बल्कि भगवान ने तो सुग्रीव को बड़ी अद्भुत उपाधि दे दी, बोले – भाई, तुम मुझे भरत के समान प्रिय हो –

तब रघुपति बोले मुसुकाई ।
तुम्ह प्रिय मोहि भरत जिमि भाई ।। ४/२१/७

कहाँ भरत और कहाँ सुग्रीव! परन्तु प्रभु ने सुग्रीव से कहा – "तुममें और भरत में रंचमात्र भी अन्तर नहीं है। तुम्हें देखकर मुझे भरत की विनम्रता की याद आती है।" इतने असमर्थ और भीरु सुग्रीव भगवान राम की कृपा पाकर लंका के रणांगण में सेना का संचालन करते हुए भगवान की विजय में, सीताजी की प्राप्ति में मुख्य हेतु बनते हैं।

यह मानो एक बहुत बड़ा आश्वासन है कि हम चाहे कितने भी असमर्थ या पराजित क्यों न हों, अपनी असमर्थता और पराजय को ईश्वर से जोड़कर, सन्त का आश्रय लेकर जब ईश्वर को पहचानते हैं, स्वयं को ईश्वर से जोड़ते हैं, तो सन्त हमें ईश्वर-प्राप्ति कराते हैं। जब ईश्वर हमारे जीवन में आते है, तो वे स्वयं बुराइयों को मिटा देते है। ❖ **(समाप्त)** ❖

बुद्धकालीन भारत (२)

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी का प्रस्तुत व्याख्यान अब तक हिन्दी में अप्रकाशित था। यह व्याख्यान २ फरवरी, १९०० ई. के दिन कैलीफोर्निया (अमेरिका) के पसाडेना नगर के शेक्सपियर क्लब में दिया गया था। इसका अनुलिखन सर्वप्रथम १९६३ ई. मे 'स्वामी विवेकानन्द शताब्दी स्मारण ग्रन्थ' में मुद्रित होकर बाद में स्वामीजी की आंग्ल ग्रन्थावली के तीसरे खण्ड में संकलित हुआ, वही से हम इसका अनुवाद प्रस्तुत करते है – सं.।

प्रारम्भ में यह (वैदिक समाज) एक बड़ी भव्य संस्था थी। फिर बाद में एक ऐसा समय आया, जब इन पुरोहितों ने सारी शक्तियाँ अपने हाथ में लेनी प्रारम्भ कर दी और अन्ततः वे अपनी शक्ति के रहस्य – निर्धनता को भूल गये। समाज ने इन लोगों के भोजन-वस्त्र की व्यवस्था की थी, ताकि वे केवल अध्ययन करें, उपदेश दें और चिन्तन में लगे रहें; परन्तु ये लोग समाज की समृद्धि को पकड़ने के लिए हाथ बढ़ाने लगे। वे धन के संग्रही हो गये और उन चीजो को भूल गये।

उसके बाद थी दूसरी जाति – क्षत्रिय राजाओं की जाति। उन्हीं के हाथों में वास्तविक शक्ति थी। इतना ही नहीं – उन्हीं में हमारे सबसे महान् चिन्तक पैदा हुए, ब्राह्मणों में नही। यह विचित्र बात है। बिना किसी अपवाद के हमारे सभी महान् अवतार इस क्षत्रिय जाति से थे। महापुरुष कृष्ण उसी जाति के थे। राम भी और हमारे सभी महान दार्शनिक, लगभग सभी राजसिंहासन पर थे; उन्ही में से त्याग के सभी महान् उपदेशक आये। सिंहासन से ही सदा यह बुलन्द आवाज निकली – "त्यागो"। ये क्षत्रिय लोग ही उनके राजा थे और वे (ही) उनके दार्शनिक भी थे। वे ही उपनिषदों के वक्ता थे। मस्तिष्क एवं विचारों की दृष्टि से वे पुरोहितो से अधिक महान् तथा शक्तिशाली थे और वे राजा थे – तो भी सारी शक्ति पुरोहितों के हाथ में आ गयी और वे उन्हें आतंकित करने लगे। और इस प्रकार पुरोहितों और राजाओं – इन दो जातियों के बीच राजनीतिक स्पर्धा चलती रही।

एक और भी बात। आप में से जिन्होंने पहला व्याख्यान सुना है, वे जानते है कि भारत में दो महान् जातियाँ हैं, जिनमें एक को आर्य और दूसरे को अनार्य कहते हैं। आर्यों में भी तीन जातियाँ हैं, पर बाकी सबको एक साथ ही शूद्र – जातिहीन कह दिया गया। वे लोग बिल्कुल भी आर्य नहीं हैं। (बहुत-से लोग भारत के बाहर से आये और यहाँ पर उन्हें ये शूद्र – देश के मूल निवासी मिले।) जो भी हुआ हो, ये बहुसंख्यक अनार्य और उनके साथ मिश्रित प्रकार के दूसरे लोग धीरे-धीरे सभ्य हुए और आर्यो के समान ही अधिकार पाने के लिए प्रयास करने लगे। वे उनके विद्यालयों तथा महाविद्यालयों में प्रवेश पाना चाहते थे। वे आर्यो के समान ही यज्ञसूत्र धारण करना चाहते थे; वे आर्यो के समान ही अनुष्ठान करना चाहते थे और धर्म एवं राजनीति में आर्यो के समान अधिकार चाहते थे। और ब्राह्मण पुरोहित ऐसे दावों के महान् विरोधी थे। आप देखते हैं कि हर देश के पुरोहितों का यही स्वभाव है – वे स्वाभाविक रूप से सर्वाधिक संरक्षणवादी होते है। जब तक यह एक व्यवसाय है, तब तक ऐसा ही होगा; संकुचित होना उनके हित में है। अतः पुरोहित लोग अपनी सारी शक्ति के साथ आर्येतर लोगों की माँगों के इस प्रवाह को रोकने का प्रयास कर रहे थे। आर्य जाति में भी एक प्रबल धार्मिक आन्दोलन चल रहा था और इसका नेतृत्व अधिकांशतः क्षत्रियों के हाथ में था।

भारत में पहले से ही जैनों का एक सम्प्रदाय था, जो आज भी वहां की एक पुरातनपन्थी शक्ति हैं। यह एक बड़ा ही प्राचीन सम्प्रदाय है। उन लोगो ने हिन्दुओं के शास्त्र – वेदों की प्रमाणिकता के विरोध में आवाज उठायी। उन्होंने स्वयं भी कुछ ग्रन्थों की रचना की और बोले, "केवल हमारी पुस्तकें ही मौलिक रचनाएँ है, ये ही एकमात्र मौलिक वेद हैं और वेद के नाम पर जो ग्रन्थ प्रचलित हैं, वे तो लोगों को ठगने के लिये ब्राह्मणों द्वारा लिखी गयी हैं।" इन लोगों ने भी वही योजना बनायी। देखो, शास्त्रों के विषय में हिन्दुओं की युक्तियो का सामना करना तुम्हारे लिए कठिन होगा। उन लोगों ने भी दावा किया कि उन पुस्तको के द्वारा जगत् की सृष्टि हुई है और उन्हें जनता की भाषा मे लिखा गया था। तब भी संस्कृत बोलचाल की भाषा नही रह गयी थी। (बोलचाल की भाषा से) उसका वही सम्बन्ध था, जो लैटिन का आधुनिक इटैलियन भाषा से है। उन लोगा ने अपने सारे ग्रन्थ पाली में लिखे और जब ब्राह्मण ने कहा, "क्यो, तुम्हारे ग्रन्थ तो पाली भाषा में हैं!" तो वे बोले, "संस्कृत तो मृतको की भाषा है।"

अपनी प्रणालियो तथा आचारों में वे लोग भिन्न थे; क्योंकि हिन्दू शास्त्र वेद एक विशाल संकलन का नाम है, जिसका कुछ भाग अपरिष्कृत है – वहाँ तक का जहाँ मात्र अध्यात्मिक धर्म की शिक्षा दी गयी है। वेद का यही वह अंश है, जिसके प्रचार का दावा ये सम्प्रदाय कर रहे थे। फिर, प्राचीन वेदो के तीन स्तर हैं, पहला कर्म, दूसरा पूजा, तीसरा ज्ञान। जब एक मनुष्य कर्म और उपासना के द्वारा अपने को शुद्ध कर लेता है, तब उस व्यक्ति में ईश्वर प्रकट हो जाते हैं। उसे अनुभव हो जाता है कि वे पहले से ही वहाँ हैं। केवल वही उन्हें देख सकता है, क्योंकि मन शुद्ध हो गया है। कर्म और उपासना के द्वारा मन को शुद्ध किया जा सकता है। बस, इतनी-सी बात है। मुक्ति पहले से ही वहाँ है। हम उसे जानते नहीं। अतः

कर्म, उपासना तथा ज्ञान – ये तीन सीढ़ियाँ हैं। कर्म से उनका तात्पर्य है – दूसरों का भला करना। उसमें वस्तुत: कुछ तत्त्व हैं, पर ब्राह्मणों के लिये मुख्यत: कर्म से तात्पर्य था – उन विस्तृत कर्मकाण्डों का अनुष्ठान करना; गायों, बैलों, बकरियों तथा सभी तरह के पशुओं का वध करना और उन्हें ताजा ही यज्ञाग्नि में डालना आदि। जैनियों ने कहा, "यह तो कोई कर्म ही नहीं है, क्योंकि दूसरों को कष्ट पहुँचाना कभी अच्छा कर्म नही हो सकता।" फिर वे बोले, "इसी से सिद्ध हो जाता है कि तुम्हारे वेद पुरोहितो द्वारा गढ़े गये मिथ्या वेद हैं, क्योंकि कोई अच्छी पुस्तक हमें पशुओं को मारने और ऐसे कर्म करने का आदेश नहीं दे सकती। तुम इसमें विश्वास नहीं करते। अत: वेदो में दिखनेवाली पशुवध आदि बातें ब्राह्मणों द्वारा लिखी गयी हैं, क्योकि इससे उन्हीं को लाभ पहुँचता है। केवल पुरोहित ही तो दक्षिणा को जेब में डालकर घर चला जाता है। अत: यह सब कुछ पुरोहिती हथकण्डा है।"

उनका एक यह भी सिद्धान्त था कि ईश्वर जैसा कुछ हो ही नहीं सकता – "पुरोहितों ने ही ईश्वर का आविष्कार किया है ताकि लोग ईश्वर में विश्वास करके उन्हें धन दें। सब बकवास है। ईश्वर है ही नहीं। प्रकृति है और आत्माएँ हैं, बस, इतना ही। आत्माएँ इस जीवन से उलझ गयी हैं और मानव-शरीर रूपी वस्त्र से आवृत्त हो गयी हैं। अत: अच्छे कर्म करो।"

परन्तु इससे यह सिद्धान्त भी निकला कि जो कुछ भौतिक है, वह बुरा है। वे लोग तपस्या के प्रथम शिक्षक थे। यदि शरीर अपवित्रता का फल है, तो इस कारण शरीर बुरा है। यदि मनुष्य कुछ काल तक एक पॉव पर खड़ा रहे – "ठीक है, यह एक दण्ड है।" यदि सिर जाकर एक दीवार से टकरा जाय – "आनन्द मनाओ, यह एक बड़ी अच्छी सजा है।" (फ्रांसिस्कन संघ के) कुछ महान् संस्थापक – जिनमें सन्त फ्रांसिस भी एक थे – किसी से मिलने किसी विशेष स्थान को जा रहे थे। सेण्ट फ्रांसिस के साथ उनके एक मित्र भी चले जा रहे थे। वे बातें करने लगे कि वह (व्यक्ति) उनका स्वागत करेगा या नहीं। इस व्यक्ति ने कहा कि सम्भवत: वह उन्हें अस्वीकार कर देगा। इस पर सेण्ट फ्रांसिस ने कहा, "भाई, इतना ही यथेष्ट नहीं, बल्कि जब हम जाकर उसका द्वार खटखटायें, तो यदि वह व्यक्ति आकर हमें भगा दे, तो उतना ही काफी नहीं है। परन्तु यदि वह हमें बाँधकर अच्छी तरह कोड़े लगाने का आदेश दे, तो उतना भी काफी नहीं है। और यदि वह हमारे हाथ-पाँव बॉधकर तब तक कोड़े बरसाता रहे, जब तक कि हमारी त्वचा के हर छिद्र से रक्त न बहने लगे और फिर हमें बर्फ में फेंक दे, तब वह यथेष्ट होगा।"

ये ही कठोरता के आदर्श उस समय प्रचलित थे। ये जैन लोग ही सर्वप्रथम महान् तपस्वी थे, परन्तु उन्होने कुछ महान् कार्य भी किये। "किसी को पीड़ा न पहुँचाओ और जहॉ तक हो सके सबका भला करो और इसी में सारी नीति व सदाचार निहित है और बस, यही कर्तव्य है, बाकी सब कुछ बकवास और ब्राह्मणों की रचना है। उन सबको फेंक डालो।" और तब वे कर्मक्षेत्र में उतर पड़े और सदा इस एक सिद्धान्त का विस्तार करते रहे और यह एक परम अद्‌भुत आदर्श है; हम जिन सब चीजों को नीतिशास्त्र कहते हैं, उन्हे वे अहिंसा एवं सत्कर्म के इस एक महान् सिद्धान्त से निकालते हैं।

यह सम्प्रदाय बुद्ध से कम-से-कम पाँच सौ वर्ष पूर्व हुआ और वे ईसा से साढ़े पाँच सौ वर्ष पूर्व हुए।[१] वे (जैन) सम्पूर्ण प्राणी-सृष्टि को पॉच भागों में विभाजित करते हैं। निम्नतम में केवल एक इन्द्रिय होती है – स्पर्शेन्द्रिय; उसके ऊपर के वर्गों में स्पर्श और स्वाद; तदुपरान्त स्पर्श, स्वाद तथा श्रवण; फिर स्पर्श, स्वाद, श्रवण तथा दृष्टि और उसके बाद वाले वर्ग में पॉचों इन्द्रियॉ। एक तथा दो इन्द्रियवाले, प्रथम दो वर्गों के जीव नंगी ऑखो से नहीं दिखते, पर वे जल में सर्वत्र विद्यमान हैं। इन्हें (जीवन के निम्नतम रूपों को) मारना एक भयानक बात है। यह जीवाणु विज्ञान (bacteriolosy) आधुनिक जगत् में केवल पिछले बीस वर्षो से ही अस्तित्व में आया है। अत: इस विषय में किसी को कुछ ज्ञात नहीं था। उन्होने कहा कि निम्नतम प्राणियों में केवल एक – स्पर्शेन्द्रिय ही होती है, बाकी कुछ नहीं। उसके ऊपर के जीव भी अदृश्य थे और वे लोग जानते थे कि यदि पानी को उबाला जाय तो ये प्राणी मर जाते है। अत: ये संन्यासी यदि प्यास से मर रहे होते, तो भी वे कभी पानी पीकर इन जीवो की हत्या नही करते। परन्तु यदि (एक संन्यासी) आपके द्वार पर खड़ा होता है और आप उसे थोड़ा-सा उबला जल देते हैं, तो जीवो को मारने का पाप आपके ऊपर जायेगा और उसे लाभ ही मिलेगा। इन विचारो को वे हास्यास्पद स्तर तक ले गये। उदाहरणार्थ – यदि वह स्नान करे तो शरीर को रगड़ने पर, उसे अनेक जीवाणुओं को मारना होगा; अत: वह कभी स्नान ही नही करता। वह स्वयं भले ही मर जाय, वह कहता है कि यह ठीक है अपने जीवन की उसे कोई परवाह नही, जीवो को बचाने के लिये वह स्वयं मर जायेगा।

ये जैन लोग थे। तपस्वियों के और भी कई सम्प्रदाय थे और जबकि एक ओर यह सब चल रहा था, तो दूसरी ओर पुरोहितो और राजाओ के बीच राजनीतिक ईर्ष्या भी थी। फिर वे विभिन्न असन्तुष्ट सम्प्रदाय जगह-जगह पैदा हो रहे थे और भी बड़ी समस्या पैदा हो गयी थी कि पास ही प्रकृति की निरन्तर धारा के बहने के बावजूद असंख्य लोग प्यास से मर रहे थे, परन्तु उन्हे एक बूँद भी पीने का अधिकार न था; ये आर्यो के तुल्य अधिकार की मॉग कर रहे थे।

---

१. तब तक महावीर तथा बुद्ध के जन्म की निश्चित तिथि का ठीक-ठीक पता नही चल सका था।

उस व्यक्ति का, उस महान् व्यक्ति – बुद्ध का जन्म हुआ। आप में से अधिकांश उनके जीवन के बारे में जानते हैं और किसी भी महापुरुष के जीवन के साथ बहुत-से चमत्कार तथा कथाएँ जुड़ जाने के बावजूद प्रथमत: वे विश्व के एक सर्वाधिक ऐतिहासिक महापुरुषो में से एक हैं। दो बड़े ऐतिहासिक हैं; एक तो सर्वाधिक प्राचीन बुद्ध और दूसरे मुहम्मद, क्योंकि उनके मित्र तथा शत्रु – दोनों ही उनके (अस्तित्व के) बारे में सहमत हैं। जहाँ तक अन्य महापुरुषों का सवाल है, जो कुछ उनके अनुयाई कहते हैं, हमें मानना पड़ता है। हमारे कृष्ण – हिन्दू महापुरुष को तुम जानते हो, वे बड़े ही पौराणिक हैं। उनके जीवन तथा उनके बारे में सारी बातें केवल उनके अनुयाइयों द्वारा ही लिखी गयी हैं और फिर कभी-कभी लगता है कि तीन चार व्यक्तित्व मानो एक ही में विलीन हो रहे हैं। हमें अनेक महापुरुषों के बारे में स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं, परन्तु चूँकि मित्रों और शत्रुओं – दोनों ने ही उनके बारे में लिखा है, हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि एक ऐसा ऐतिहासिक व्यक्ति हुआ था और यदि हम इस जगत् में एक महापुरुष के साथ जुड़ी हुई समस्त दन्तकथाओं तथा चमत्कारों के विवरण का विश्लेषण करें, तो उसमें हमें एक आन्तरिक सार मिलेगा; उस व्यक्ति की पूरी जीवन-कथा में उसने कभी, कुछ भी अपने लिये नहीं किया। प्रश्न उठता है कि आपको यह कैसे मालूम हुआ? क्योंकि किसी व्यक्ति के साथ जब कोई दन्तकथा जुड़ती है, तो वह कथा उस व्यक्ति के सामान्य चरित्र से रंजित हुआ करती है और एक भी कथा में इस व्यक्ति पर कोई दोष या अनैतिकता मढ़ने की कोशिश नहीं की गयी है। यहाँ तक कि उनके शत्रुओं ने भी उनके पक्ष में ही विवरण दिये हैं।

जन्म के समय बुद्ध इतने पवित्र थे कि जो कोई दूर से भी कभी उनका चेहरा देखता, वह तत्काल ही कर्मकाण्डी धर्म को छोड़ संन्यासी बन जाता और मुक्त हो जाता। अत: देवताओं ने एक सभा की। वे बोले, "हम बरबाद हो गये।" क्योंकि अधिकांश देवता यज्ञों पर ही जीवन-धारण करते है। ये यज्ञ देवताओं को प्राप्त होते हैं और ये यज्ञादि चले गये। देवता लोग भूखों मर रहे थे और (इसका कारण) यह था कि उनकी शक्ति चली गयी थी। अत: देवताओं ने कहा, "जैसे भी हो, हमें इस आदमी को दबाना होगा। यह हमारे जीवन की दृष्टि से, जरूरत से ज्यादा पवित्र है और तब देवतागण उनके पास आकर बोले, "महाशय, हम आपसे कुछ माँगने आये हैं। हम एक महान् यज्ञ करना चाहते हैं और हमें एक बड़ी विशाल अग्नि प्रज्वलित करनी है और हम पूरे विश्व में एक पवित्र स्थान ढूँढ़ रहे है, जिस पर हम अग्नि प्रज्वलित कर सकें; पर हमें वह मिला नहीं; अब हमें वह मिल गया है। यदि आप लेट जायँ, तो हम आपके सीने पर वह विशाल अग्नि प्रज्वलित करेंगे। उन्होंने कहा, "मंजूर है; करो।" और देवताओं ने बुद्ध के सीने पर विशाल अग्नि प्रज्वलित की। उन लोगों ने सोचा कि वे मर गये, पर ऐसा हुआ नहीं। और तब वे फिर लौट गये और कहने लगे, "हम बरबाद हो गये।" और सभी देवता उन पर प्रहार करने लगे। पर कोई लाभ नहीं हुआ। वे इन्हें मार नहीं सके। नीचे से आवाज आयी, "क्यों व्यर्थ में यह सब प्रयास कर रहे हो?" उन लोगों ने कहा, "जो भी आपकी ओर देखता है, पावन हो जाता है और बच जाता है। फिर कोई भी हमारी पूजा नहीं करता।" उत्तर मिला, "तो फिर तुम्हारा प्रयास व्यर्थ है, क्योंकि पवित्रता को कभी नष्ट नहीं किया जा सकता।" यह कथा उनके शत्रुओं द्वारा रची गयी थी, तो भी इस पूरी कथा में बुद्ध पर एकमात्र यही दोषारोपण किया गया है कि वे पवित्रता के इतने महान् प्रचारक थे।

उनके सिद्धान्तों के बारे में आप में से कुछ लोग थोड़ा-बहुत जानते हैं। उनके सिद्धान्त आज के अज्ञेयवादी कहे जानेवाले अनेक विचारकों को आकृष्ट करते हैं। वे मानव-जाति के बीच भ्रातृभाव के महान् प्रचारक थे – "आर्य हो या अनार्य, सवर्ण हो या अवर्ण, सम्प्रदाय का हो या असाम्प्रदायी – हर व्यक्ति का ईश्वर में, धर्म तथा मुक्ति में समान अधिकार है। आओ, तुम सभी चले आओ।" परन्तु जहाँ तक अन्य चीजों का सवाल है, वे महान् अज्ञेयवादी थे। उनका कहना था, "व्यावहारिक बनो।" एक दिन ब्राह्मण जाति में उत्पन्न पाँच युवक एक प्रश्न पर झगड़ते हुए उनके पास आये। वे उनसे सत्य का मार्ग पूछने आये। एक ने कहा, "हमारे आचार्यों ने ऐसा बताया है और यही सत्य का मार्ग है।" दूसरे ने कहा, "मुझे ऐसा बताया है और यही सत्य का एकमेव मार्ग है।"

"महाशय, कौन-सा मार्ग ठीक है?"

"अच्छा, तुम्हारे शिक्षकों ने सत्य और ईश्वर तक जाने का यह मार्ग बताया है?"

"जी, हाँ।"

"परन्तु क्या तुमने ईश्वर को देखा है?"

"नहीं, महाशय।"

"तुम्हारे पिता ने?"

"नहीं, महाशय।"

"तुम्हारे पितामह ने?"

"नहीं, महाशय।"

"उनमें से किसी ने ईश्वर को नहीं देखा?"

"नहीं।"

"अच्छा, और न ही तुम्हारे शिक्षकों में से किसी ने ईश्वर को देखा है?"

"नहीं।"

और यही प्रश्न उन्होंने बाकी सबसे पूछा। सबने बताया कि उन्होंने ईश्वर को नहीं देखा।

बुद्ध बोले – "अच्छा, एक गाँव में एक युवक रोता-पीटता और चिल्लाता हुआ आया, 'ओह, मैं उससे इतना प्यार करता हूँ! ओह, मैं उससे इतना प्यार करता हूँ!' ग्रामवासियों के आने पर उसने केवल इतना ही कहा कि वह उसे बड़ा प्यार करता है।

"वह कौन है, जिसे तुम प्यार करते हो?"

"मैं नहीं जानता" – पर वह उससे प्यार करता था।

"वह दिखने में कैसी है?"

"सो तो मैं नहीं जानता, पर ओह, मैं उसे बड़ा प्यार करता हूँ।"

तब बुद्ध ने कहा – "युवको, तुम लोग उस युवक को क्या कहोगे?"

उन सबने एक स्वर में कहा – "क्यों महाशय! वह युवक तो निश्चय ही एक मूर्ख था। एक औरत के बारे में इतना रोना-गाना, कहना कि वह उसे बड़ा प्यार करता है, जबकि न उसने कभी उसे देखा है और न ही उसके अस्तित्व या किसी चीज के बारे में जानता है!"

"तुम लोग भी क्या वैसे ही नहीं हो? तुम हो कि इस ईश्वर को तुम्हारे बाप-दादाओं ने भी कभी नहीं देखा और इस समय तुम लोग एक ऐसी चीज को लेकर लड़ रहे हो, जिसे न कभी तुमने, न तुम्हारे पूर्वजों ने समझा और उसे लेकर तुम लोग एक-दूसरे का गला काटने की चेष्टा कर रहे हो।"

तब उन युवकों ने पूछा, "तो फिर हम लोग क्या करें?"

"अब मुझे बताओ – क्या तुम्हारे पिता ने कभी तुम्हें सिखाया है कि ईश्वर क्रोधी हैं?"

"नहीं, महाशय।"

"क्या कभी तुम्हारे पिता ने तुम्हें सिखाया है कि ईश्वर बुरे हैं?"

"नहीं, महाशय, वे तो सर्वदा पवित्र हैं।"

"अच्छा, तो फिर, यह सब तर्क-वितर्क करने तथा एक-दूसरे का गला काटने के प्रयास की अपेक्षा यदि तुम पवित्र और भले आदि हो सको, तो क्या तुम्हारे लिए ईश्वर तक पहुँचने की अधिक सम्भावना नहीं रहेगी? इसीलिये मैं कहता हूँ – पवित्र और भले बनो; पवित्र बनो और सबसे प्रेम करो।" और इतना ही यथेष्ट था।

देखो, प्राणियों के प्रति अहिंसा और दया का सिद्धान्त उनके जन्म के पहले से ही अस्तित्व में था; परन्तु जातियों का विघटन, वह विराट् आन्दोलन – यह उनके समय में एक नयी बात थी। दूसरी जो नई चीज हुई वह यह कि उन्होंने अपने चालीस शिष्यों को सम्पूर्ण विश्व में यह कहते हुए भेज दिया, "जाओ, सभी जातियों और राष्ट्रों से मिलो और सबके उपकार के उत्तम सन्देश का सबके हितार्थ प्रचार करो।" और वस्तुत: हिन्दुओं ने उन पर आघात नहीं किया। परिपक्व वृद्धावस्था में उनका देहान्त हुआ। जीवन भर वे एक बड़े ही कठोर व्यक्ति रहे, दुर्बलता के समक्ष कभी उन्होंने हथियार नही डाला। मैं उनके अनेक सिद्धान्तों में विश्वास नहीं करता, सचमुच ही नहीं करता। मेरा विश्वास है कि प्राचीन हिन्दुओं का वेदान्त-मत काफी अधिक विचारपूर्ण है, कहीं अधिक भव्य जीवन-दर्शन है। मुझे उनकी कार्यपद्धति पसन्द है, पर उस व्यक्ति में मुझे सर्वाधिक पसन्द जो चीज है, वह यह है कि मानव-जाति के सभी आचार्यों में वे ही एक ऐसे थे, जिन्होंने अपने मस्तिष्क में कभी किसी मकड़-जाल को स्थान नहीं दिया और वे सही दिमागवाले तथा सबल थे। जब कई राजसत्ताएँ उनके चरणों में झुकीं, तो भी वे वही व्यक्ति थे, जिनका भाव था, "मैं मनुष्यों के बीच एक मनुष्य हूँ।"

हिन्दू लोग किसी की पूजा करने को उतावले रहते हैं। यदि तुम अधिक दिन जीवित रहो, तो देखोगे कि मैं अपने देशवासियों द्वारा पूजा जाऊँगा। यदि तुम वहाँ कुछ शिक्षा देने जाओ, तो अपनी मृत्यु के पूर्व ही तुम पूजे जाओगे। वे सर्वदा किसी की पूजा करने का प्रयास करते हैं और उस जाति में रहकर विश्व-सम्मानित बुद्ध सदा यह घोषणा करते हुए मर गये कि वे मात्र एक मनुष्य हैं। उनके प्रशंसकों में से कोई भी उनसे ऐसी स्वीकृति नहीं निकलवा सका कि वे किसी अन्य व्यक्ति से जरा भी भिन्न हैं।

उनकी मृत्यु के समय के उनके वे शब्द सर्वदा मेरे हृदय को रोमांचित करते रहे हैं। वे वृद्ध थे, कष्ट पा रहे थे, अपनी मृत्यु के कगार पर थे और उसी समय वह तिरस्कृत चाण्डाल आया, जो मृत पशुओं के शव पर जीवन-निर्वाह करता था। हिन्दू उन्हें नगरों में नहीं आने देते थे। इन्हीं में से एक ने उन्हें भोजन के लिये निमंत्रित किया और वे अपने शिष्यों के साथ गये। बेचारा चाण्डाल इस महान् आचार्य की अपनी समझ के अनुसार सर्वोत्तम सेवा करना चाहता था, अत: उसने उनके लिये बहुत-से सूकर के मांस तथा चावल की व्यवस्था की थी। बुद्ध ने उस ओर देखा। शिष्यगण हिचकिचा रहे थे और आचार्य ने कहा, "ठीक है, मत खाओ, तुम्हारी हानि होगी।" परन्तु वे स्वयं चुपचाप बैठ गये और खाने लगे। समता के उपदेशक को (चाण्डाल) चन्द का भोजन, यहाँ तक कि सूकर का मांस खाना होगा। वे बैठकर उसे खाने लगे।

(क्रमशः)

जीने की कला (६)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी दो भागों में निकला है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। अनुवादक हैं श्री रामकुमार गौड़, जो सम्प्रति आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र में सेवारत हैं। – सं.)

ईश्वर का भय

एक कहावत है कि ईश्वर का भय ही ज्ञान का मूल है। पर ईश्वर से भला कोई क्यों डरे? वस्तुत: ईश्वर से डरने की कोई जरूरत नहीं। ईश्वर तो परम प्रेमस्वरूप हैं। ईश्वर से अधिक प्रियतर हमारा कोई भी नहीं है। फिर प्रेम का अजस्र-स्रोत भय का कारण क्यों हो? यह कहावत सुनकर बड़ा आश्चर्य होता है कि ईश्वर का भय ही समस्त ज्ञान का मूल है।

इसकी व्याख्या इस प्रकार हो सकती है, "एक सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर विद्यमान हैं। उनके ज्ञान से परे कुछ भी नहीं है। उन्हें कोई भी धोखा नहीं दे सकता। इस ब्रह्माण्ड की सुव्यवस्था वे ही करते हैं। हमारे जीवन में भी एक निश्चित नियम है। जीवन में सफलता पाने के लिये हम सभी को एक निश्चित नीति-संहिता का पालन करना पड़ता है। जैसे नियमित आहार-विहार से स्वास्थ्य ठीक रहता है, वैसे ही नीति-संहिता के पालन से मानसिक बल मिलता है तथा हम सच्चे अर्थों में मनुष्य बनते हैं। हमें ईश्वरीय राज्य के नैतिक आचारों का पालन करना है, "तुम चोरी नहीं करोगे, तुम हिंसा नहीं करोगे और झूठ नहीं बोलोगे।" नैतिक आचार-संहिता का पालन न करके हम कठिनाइयों को आमंत्रित करते हैं। यदि हम समझ लें कि इन नियमों के उल्लंघन से हमारे आसपास के लोगों को नुकसान पहुँचेगा, तो हम सजग हो जायेंगे और इस उल्लंघन से होनेवाली क्षति से डरेंगे। यह सजगता, यह सावधानी भी एक तरह का भय है। यह वांछनीय है। वस्तुत: इसमें कोई भय नहीं है। यह एक तरह की चेतावनी है। बुराई के पथ पर चलने का भय, झूठ बोलने का भय, छल-कपट का आचरण करने तथा कर्तव्यच्युत होने का भय हमें इसके उल्लंघन से बचाता है। ऐसा भय एक प्रकार की सुरक्षा है। दुराचार का बीज बोने पर उसका फल निश्चय ही कड़वा होगा।

'विष्णुसहस्रनाम' में ईश्वर को **भयकृत् भयनाशनः** (अर्थात् भय को उत्पन्न करने और भय को दूर भगानेवाले) कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि पापियों के लिये वे भयस्वरूप हैं, पर सज्जनों को वे भयमुक्त कर देते हैं। नृसिंह भगवान के दर्शन मात्र से हिरण्यकशिपु भयभीत हो जाता है, परन्तु प्रह्लाद ने कहा, "मैं आपसे भयभीत नहीं हूँ।" जो लोग अपनी भूलों को समझकर पश्चात्ताप करते हुए ईश्वर के शरणागत होकर उनसे क्षमा-याचना करते हैं, ईश्वर निश्चय ही उनकी सहायता करते हैं, ताकि उन्हें आत्मसुधार का मौका मिल सके। यह बिल्कुल सत्य है कि ईश्वर परम दयामय हैं और वे सबकी रक्षा करते हैं, परन्तु पापी को पाप-भावना से मुक्त होने के लिए दीर्घ काल तक संघर्ष करना पड़ता है। विश्वविधाता द्वारा निर्मित आचार-संहिता को जानना और उसका अक्षरश: पालन करना ही सच्चा ज्ञान है। यह ज्ञान जीवन को सार्थकता प्रदान करता है। ब्रह्माण्ड तथा इसके नियमों के निर्माता के ज्ञान से उत्पन्न सजगता ही सच्चा ज्ञान है। एक वैज्ञानिक प्रकृति के सूक्ष्म नियमों तथा रहस्यों को उद्घाटित करता है, जबकि विश्व के धर्मग्रंथ, ऋषि-मुनि तथा महापुरुष हमें उचित आचरण और सच्चे धर्म के नियम प्रदान करते हैं।

हमारे देशवासी ईश्वर के बारे में विविध प्रकार के भयों से आक्रान्त रहते हैं। इस भय की जड़ प्राय: बाल्यावस्था से ही अर्जित उनकी मिथ्या धारणाओं में निहित होती है। कुछ लोग भगवन्नाम का जप करते समय भी आनुष्ठानिक अशुचिता से भयभीत रहते हैं। कुछ लोग इस कारण भयभीत रहते हैं कि भगवान कहीं उन्हें अभिशाप न दे दें। कुछ तो अपनी प्रार्थना आदि साधनाओं में कुछ त्रुटियों या अपूर्णताओं की आशंका से ही उनका पूरी तौर से परित्याग कर देते हैं।

एक ग्रामीण के जीवन की घटना है। एक बार वह बस में चढ़ा और सीट पर बैठने के बाद शीघ्र ही बीमार होकर गिर पड़ा। सहयात्री उसकी मदद के लिये दौड़ पड़े। एक चिकित्सक ने आकर उसे सूई लगायी और जल्दी ही वह स्वस्थ हो गया। वह उठ बैठा और चारों ओर देखने लगा। वह अपनी बीमारी का दोष उस बस पर ही मढ़ने लगा। इस घटना के लिये वह बस के चालक और परिचालक को दोष देने लगा। चूँकि बस में चढ़ने के बाद ही वह बीमार पड़ गया, अत: वह बस को ही अपनी बीमारी का कारण मानने लगा। वस्तुत: उसने एक होटल में बासी भोजन कर लिया था और विश्राम के अभाव में थकावट के कारण उसकी तबीयत खराब हो गयी, परन्तु उसके अनुसार बस ही उसकी अस्वस्थता के लिए जिम्मेदार थी। इसी प्रकार भगवान कभी किसी को क्षति नहीं पहुँचाते। तथाकथित भक्तगण केवल अपने अज्ञान, मूढ़ता तथा अन्धविश्वास के कारण ही कई तरह की झंझटों में फँस जाता है।

भयग्रस्त देबू

देबू इलेक्ट्रिकल फिटिंग में सिद्धहस्त एक युवक है। मात्र कुछ ही घण्टों में वह एक पूरे मकान की वायरिंग को पूरा कर सकता था। एक बार एक परिचित सम्भ्रान्त बुज़ुर्ग ने उससे

कहा, "तुम्हारे माता-पिता की मृत्यु तपेदिक (टी.बी.) से हुई थी। लगता है तुम्हें भी तपेदिक हो जायेगा।" अगले कुछ दिनों तक ये शब्द उसके मन में गूँजते रहे। इसके बाद जब भी उसे खाँसी आती, वह भयभीत हो जाता। एक पुस्तक में तपेदिक के लक्षणों को पढ़कर वह आतंकित रहने लगा। उसे लगता – मुझमें तो इसके प्राय: सारे ही लक्षण हैं। वह दूसरों से कहता, "मुझे भोजन में स्वाद नहीं मिलता। रोजाना शाम को मुझे लगता है कि मेरी देह का ताप बढ़ गया है। कुछ भी करने की इच्छा नही होती। मेरे दिन अब पूरे हो चले हैं।" अगले तीन महीनों में उसके स्वास्थ्य में तेजी से गिरावट आई। जब चिकित्सक कहते कि वह बिल्कुल स्वस्थ है, तो भी उसे विश्वास नहीं होता। अन्तत: चिकित्सक ने उसके सीने का एक्स-रे करके उसे रिपोर्ट दिखाते हुए कहा, "देखो, तुम्हारे फेफड़े ठीक हैं। यह दवा खाओ, एक सप्ताह में तुम पूरी तौर से ठीक हो जाओगे।" उसने एक तपेदिक-रोगी के एक्स-रे के साथ अपने एक्स-रे का मिलान किया और तब उसे विश्वास हुआ कि वह तपेदिक की सम्भावना से मुक्त है। कुछ ही दिनों में, देबू पूर्ववत् भला-चंगा हो गया। यदि वह भय एवं सन्देह में ही डूबा रहता, तो कभी स्वस्थ न हो पाता।

भय का मूल

भय कहाँ से उत्पन्न होता है? खतरे तथा उनसे होनेवाली क्षति की आशंका के चिन्तन का प्रभाव हमारे अवचेतन मन पर पड़ता है। भय की तीव्रता बढ़ने के साथ-साथ जब खतरे की कल्पना और भी स्पष्ट होती जाती है, तब हमारा मन इस काल्पनिक भय को वास्तविकता में बदलने लगता है।

देबू ने पहले तो तपेदिक-ग्रस्त रोगी की अवस्था की कल्पना की। उसे भय हुआ कि उसे भी एक तपेदिक रोगी की पीड़ा भोगनी पड़ सकती है। भय और दुराशा के तीव्र चिन्तन ने उसके अन्तर्मन पर ऐसा प्रभाव डाला कि वह कल्पना प्राय: वास्तविकता में ही परिणत हो गयी।

हम उस नौसिखिये साइकिल-चालक के प्रसंग को स्मरण कर सकते हैं जो गिर जाने के काल्पनिक भय के कारण ही अन्तत: नाली में गिर पड़ा था। परीक्षा-भय से अपनी स्मरण-शक्ति गँवा बैठने वाले बालक की कहानी भी ठीक ऐसी ही है। जब हम बुराई या दोषों का तीव्र चिन्तन करने लगते हैं, तो वे हमारे अन्तर्मन में अंकित होकर धीरे-धीरे अभिव्यक्त होने लगते हैं। भय के इस बीज का फल हमें खराब स्वास्थ्य, कठिनाइयों तथा दु:ख-कष्ट के रूप में प्राप्त होता है।

जो बातें अज्ञात रूप से अवचेतन मन में अंकित हो जाती हैं, वे एक-न-एक दिन अवश्य ही प्रकट होंगी। किसी चीज के प्रति तीव्र घृणा या तिरस्कार के भाव के साथ सतत चिन्तन हमारे मन में बुरे फल देनेवाले बीज बो सकता है। यह उस बुराई की जड़ें जमाने में सहायक हो सकता है, जिसका हम उन्मूलन करना चाहते थे। जिसे हम बाहर निकाल डालना चाहते थे, वही हमें अपने आप में डुबा सकता है।

संजय पिन निगल गया

कन्नड़ भाषा की एक लघु पुस्तक "भय – एक विश्लेषण" में डॉ. शिवराम एक घटना का वर्णन करते हैं –

"एक विचित्र घटनाक्रम में संजय नामक एक धनी युवक एक पिन निगल गया। यदि वह पिन आँतों में कहीं फँस जाती, तो इससे बड़ी भारी समस्या आ जाती। फिर ऑपरेशन आवश्यक हो जाता, जो घातक भी हो सकता था। मैंने उसे हर छह घण्टे बाद एक्स-रे कराने का निर्देश दिया, ताकि यह पता चल सके कि पिन मलत्याग के दौरान बाहर निकल गया है या नहीं। चौथे एक्स-रे में पिन का कोई चिह्न दिखाई नहीं दिया। उसका अर्थ यह था कि पिन बाहर निकल गयी। मैंने संजय से पूछा, "क्या तुमने उस पिन के लिये मल की छान-बीन की?" संजय ने निर्भयतापूर्वक उत्तर दिया, "कौन चिन्ता करे? किसे परवाह कि वह पिन है भी या नहीं? खैर एक्स-रे में तो उस पिन का कोई चिह्न दिखाई नहीं पड़ा?"

वह बिल्कुल आश्वस्त और निश्चिन्त था कि यदि पिन आँतों में फँसी भी हो, तो उसे शल्यक्रिया द्वारा निकाला जा सकता है। उसकी निश्चिन्तता के कारण ही भय तथा चिन्ताजनित कोई जटिलता नहीं उत्पन्न हुई। उसके निर्भय मनोभाव के कारण ही आँतों ने स्वाभाविक प्रक्रिया से मलोत्सर्जन के साथ उस पिन को बाहर निकाल दिया। यदि वह चिन्तित रहता, तो शायद भय के कारण ही वह पिन आँतों में फँस जाती।

काल्पनिक भय

एक युवक ने अपने काल्पनिक भय की कथा को सुनाना प्रारम्भ किया, "आपको मेरी कहानी सुनकर हँसी आयेगी, परन्तु उन दिनों मेरे भय की कोई सीमा न थी। तेज हवा चलने पर मुझे भय होता कि कही मेरे घर की छत ही न उड़ जाय। बादलों की गर्जना सुनकर मुझे मृत्यु के सदृश आघात पहुँचता। नरक-यातना का वर्णन सुनकर मैं मरणोपरान्त नरक-भोग की पीड़ा की कल्पना करने लगता। कर्मचारीगण यदि आदेशों के पूरा करने में विलम्ब करते, तो मै चिन्तित हो जाता कि इन आलसी कर्मचारियों के साथ मै कैसे काम करूँ। मुझे आशंका होती कि उन्हें किसी प्रकार का दण्ड देने पर कहीं वे मुझ पर आक्रमण न कर बैठें। मै कल्पना करता कि मेरे चलने का ढंग देखकर लड़कियाँ मेरा उपहास करती हैं। मैं निरन्तर इस बात से चिन्तित था कि कभी कोई लड़की मुझसे विवाह करना पसन्द नहीं करेगी। मैं चिन्तित था कि ससुराल में मैं कैसा आचरण करूँगा। मै कल्पना करता कि यदि मेरी पत्नी गाँव की होगी, तो उसके घर की ओर जानेवाली निर्जन

सड़क से होकर जाते हुए डाकू मुझ पर प्रहार करके मुझे लूट लेंगे और इससे आतंकित हो उठता।''

एक बार मेरे एक मित्र ने एक और घटना बताई, ''लगता है कुछ दिन पूर्व हमारे पड़ोसी बाबू को साँप ने डँस लिया। लोगों ने कहा – ''वह साँप के डँसने के एक-आध घण्टे के भीतर ही मर गया। हमें सावधान रहना चाहिए। इस क्षेत्र में अक्सर ही साँप निकलते रहते हैं।'' यह सुनकर मैं साँप के भय से अभिभूत हो गया। मैंने एक टार्च खरीद ली और शाम को नगर में आते समय सदैव उसे साथ रखने लगा। कोई आहट मिलने पर मैं भय से उछल पड़ता। बिस्तर पर सोते समय भी मुझे भय लगा ही रहता था। मैं प्रति घण्टे उठकर टार्च जलाकर चारों ओर देखता। मेरा मन साँप के भय से आतंकित था। यदि साँप मेरे पैर में काट ले, तो मैं पैर के चारों ओर रस्सी बाँध लेता, परन्तु यदि वह सिर में डँस ले, तो? मैं भय से टूट गया। छह महीनों तक मैं कहीं भी जाते समय अपने साथ टार्च ले जाता रहा, पर एक बार भी मुझे कोई साँप दिखाई नहीं पड़ा। मैं खुद पर शर्मिन्दा था। अपने मन को भय की अनावश्यक कल्पनाओं से भर लेने के कारण मुझे खुद पर हँसी आने लगी। मुझे लगा कि ऐसे भयों को आश्रय देकर, जिनमें से एक भी सत्य सिद्ध नहीं हुआ, मैंने कैसी मूढ़ता दिखाई है।

पके हुये चावलों में एक कंकड़ मिल जाने का अर्थ यह नहीं कि पूरा चावल ही कंकड़ों से भरा पड़ा है! यदि दो-एक विपत्तियाँ आ जायँ, तो इसका अर्थ यह नहीं कि सारा जीवन ही संकटमय है। यदि हममें थोड़ी तर्कशक्ति तथा विवेक हो, तो हम इस काल्पनिक भय से खुद को मुक्त कर सकते हैं।

तनुजा का भय

इसी प्रकार के काल्पनिक भय ने तनुजा को दो वर्षों तक त्रस्त किये रखा। वह दो बच्चों की माँ थी और सदैव उनकी सुरक्षा के बारे में चिन्तित रहती। सबेरे स्कूल जाते समय वह बच्चों को बारम्बार चेताती, ''मोटर-गाड़ियों से सावधान रहना, अन्यथा कुचल जाओगे।'' बच्चों के मोटरों से कुचल जाने का चित्र उसके मन को बारम्बार व्यथित कर देता। थोड़ी-थोड़ी देर के बाद वह रसोईघर से निकलकर देखती कि सड़क पर कोई दुर्घटना तो नहीं हो गयी। इसके फलस्वरूप किसी दिन दाल में नमक नहीं पड़ता, तो कभी सब्जी बिना मसाले के रह जाती। घर के सारे कार्य अस्त-व्यस्त हो जाते। वह विचित्र भुलक्कड़पन से ग्रस्त हो गयी। हर रोज ऐसा ही होता।

एक बार उसके पति ने उससे कहा, ''क्या तुम पागल हो गयी हो? यदि तुम्हारी आशंका सच होती, तो इन दो वर्षों के दौरान सड़क पर चलते हुए कितने ही बच्चे कुचलकर मर गये होते? तुम बेकार ही चिन्तित रहती हो।''

तनुजा ने कहा, ''हाँ, दुर्घटनाएँ नित्य नहीं हुआ करतीं।'' और क्रमशः वह काल्पनिक भयों से मुक्त हो गयी।

तुमने शायद पढ़ा या सुना होगा कि कुछ वर्षों पूर्व कुछ नकाबपोशों ने एक रात्रिकालीन बस को रोककर यात्रियों का सामान लूट लिया था। यदि आज रात तुम्हें उसी मार्ग से यात्रा करनी हो, तो लूटपाट का चित्र तुम्हारे मन को आतंकित कर देता है। तुमने पहले से ही पिस्तौल लिये हुए नकाबपोशों द्वारा यात्रियों को धमकाये जाने का चित्र अखबार में देखा होगा। अब वे चित्र तुम्हारे मन में सजीव हो उठते हैं। यदि तुम्हारे पास रुपये पैसे हैं, तो तुम उसे सुरक्षित रखने का सर्वोत्तम तरीका खोजने का प्रयास करते हो, रात भर जागते रहते हो। तुम्हारे दिल की धड़कन बढ़ती जाती है। बीच-बीच में तुम स्वयं को आश्वस्त करने लगते हो कि यह सब भ्रममात्र है। परन्तु भय निरन्तर तुम्हें पीड़ित करता रहता है। अन्ततः जब बस बीच में दुर्घटनाग्रस्त होने से बचकर तुम्हे गन्तव्य तक पहुँचा देती है, तब तुम राहत की साँस लेते हो।

इस प्रकार अनेक लोग निर्मूल काल्पनिक भयों से आक्रान्त रहा करते हैं।

सदमे द्वारा तबाही

वह किसी भी प्रकार की शारीरिक दुर्बलताओं से रहित एक स्वस्थ युवक था। सामान्यतया वह हकलाता नहीं था, परन्तु लोगों की भीड़ देखने पर वह एक शब्द भी नहीं बोल पाता था। लम्बे समय तक कोई भी उसकी इस असमर्थता का कारण नहीं समझ सका। अन्ततः विशेषज्ञों ने उसे सम्मोहन-विद्या से सुलाकर उसकी हकलाहट का कारण जान लिया। तीन वर्ष की अवस्था में जब वह अपनी माँ के साथ सड़क पर जा रहा था, तो एक मोड़ पर उसने दो कारों के बीच हुई एक भयानक भिड़न्त देखी। उसकी आँखों के सामने ही कारों में आग लग गयी और आग की लपटों के बीच कार में फँसे लोगों को बचाने हेतु लोगों की भीड़ उमड़ पड़ी। इस दुर्घटना से उस संवेदनशील बालक के मन पर गहरा सदमा लगा और तब से वह जब भी लोगों की भीड़ देखता, उसकी वाक्शक्ति चली जाती। विशेषज्ञों ने उसे सम्मोहन द्वारा सुला-कर उसके मन में दृढ़मूल भय को दूर करने का प्रयास किया और इस प्रकार उसके भीतर पुनः विश्वास पैदा किया। विशेषज्ञ उसे फुटबाल-मैच तथा सर्कस आदि दिखाने ले गये, जिनमें उसे आनन्दपूर्ण दृश्य और अद्भुत करतब देखने को मिले। धीरे-धीरे वह भीड़ के दृश्य के भय के साथ आनन्दपूर्ण खेलों को भी सहबद्ध करना सीख गया। उसके अवचेतन मन ने इस नये साहचर्य को सत्य मान लिया और क्रमशः उसकी वाक्शक्ति लौट आयी।

एक युवती हकलाहट से बड़ी परेशान थी। मनो-चिकित्सकों

को इस रोग का मूल उसके अवचेतन मन में मिला । बचपन में वह प्राय: ही अपने माता-पिता के बीच झगड़े-टंटे देखा करती थी । एक बार अपने पिता द्वारा माँ को पीटने का दृश्य देखकर उसे सदमा लग गया । यह सदमा उसके अन्तर्मन की गहराई में बैठ गया था । यह छिपा हुआ भय मन से निकल जाने पर वह हकलाहट से मुक्त हो गयी ।

हमें उक्त घटना का अभिप्राय समझना होगा। इसका निहितार्थ बड़ा ही महत्वपूर्ण है । इस घटना के आलोक में हम यह समझ सकते हैं कि हमारे देश में माता-पिता की अज्ञानता और परिवेश के प्रभाव से बच्चे कैसी कठोर परिस्थितियों तथा संकटों का सामना करते हैं। विभिन्न जातियों, धर्मों तथा सांस्कृतिक परम्पराओं में जन्मे हमारे बच्चों का जीवन कैसा जटिल है! यद्यपि यह विषय इस भय के प्रकरण से सीधे तौर पर सम्बद्ध नहीं है, तो भी बच्चों के भावनात्मक जीवन और शिक्षा से इसका सम्बन्ध अवश्य है और इसके बारे में कुछ जानकारी प्राप्त कर लेना यहाँ विषयान्तर नहीं है । एक बालक ज्यों-ज्यों बड़ा होता है, त्यों-त्यों वह अपने आसपास के परिवेश – घर, स्कूल तथा समुदाय के साथ उचित या अनुचित ढंग से सम्बद्ध होने लगता है। घर ही बच्चे को प्रभावित करनेवाला सर्वप्रथम और सबसे शक्तिशाली स्थान है । यदि घर का परिवेश इसके परिवार के सदस्यों, विशेषकर माता-पिता के बीच आपसी विवादों और दोषारोपणो से दूषित है, तो इसका बालक के मानसिक स्वास्थ्य पर गम्भीर असर पड़ता है । यह सहज ही कल्पनीय है कि इससे बच्चे के व्यक्तित्व का विकास काफी बाधित होगा ।

मान लो किसी बालक को घर, स्कूल तथा पास-पड़ोस से घृणित और उपेक्षायुक्त व्यवहार मिलता है। फिर वह सहज भाव से कुसंग में पड़कर तरह-तरह के उत्पीड़न और प्रहारों का शिकार बनता है । इन भयावह अनुभवों की स्मृतियाँ उसके मन पर एक स्थायी दाग छोड़ जाती हैं। उसके मन में यह भावना घर कर जाती है कि वह सबके द्वारा अवांछित और परित्यक्त तथा उपेक्षित है । विभिन्न प्रकार के दुष्कर्मों में लिप्त होकर उसमें अपराध-बोध आ जाता है । उसे विश्वास हो जाता है कि वह कोई भी उपयोगी कार्य कर पाने में असमर्थ है । इस प्रकार एक व्यक्ति के रूप में उसका विकास प्रभावित होने लगता है । हीन-भावना से ग्रस्त होने के कारण वह दूसरों के समक्ष अपने मनोभाव प्रकट नहीं कर पाता । वह भावी दुर्भाग्यों से डरा रहता है; असहायता, निराशा, अपराध-बोध, क्रोध तथा बदले की भावना से परिपूर्ण रहता है । ऐसे युवक आगे चलकर सहज ही असामाजिक तत्त्वों में परिणत हो जाते हैं।

❖ (क्रमशः) ❖

ईसप की नीति-कथाएँ (२६)

(ईसा के ६२० वर्ष पूर्व आविर्भूत ईसप, कहते है कि वे पूर्व के किसी देश में जन्मे और यूनान में निवास करनेवाले एक गुलाम थे। उनके नाम पर प्रचलित अनेक कथाओं पर बौद्ध जातकों तथा पंचतंत्र आदि मे ग्रथित भारतीय कथाओं की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। इन कथाओ में व्यवहारिक जीवन के अनेक कटु या मधुर सत्यों का निदर्शन मिलता है, अत: ये आबाल-वृद्ध सभी के लिये रोचक तथा उपयोगी है। – सं.)

पशु, पक्षी और चमगादड़

पक्षियों तथा पशुओं में युद्ध हुआ करता था और कभी इनकी, तो कभी उनकी विजय हुआ करती थी। चमगादड़ के कुछ लक्षण पक्षियों से मिलते हैं और कुछ पशुओं से, अत: इन युद्धों में जिस ओर का पलड़ा भारी देखता, उसी ओर से लड़ता। आखिरकार जब दोनों पक्षों के बीच सुलह हुई, तो दोनों को ही उसके धोखे-भरी प्रवृत्ति का बोध हुआ। अत: वह दोनों के द्वारा ही परित्यक्त होकर दिन का प्रकाश छोड़कर रात के अँधेरे में छिपने चला गया। तब से वह सदा रात को और अकेले ही उड़ता है।

ज्यादा चालाकी महँगी पड़ सकती है।

अपव्ययी युवक और अबाबील पक्षी

एक युवक बड़ा ही फिजूलखर्च था। उसने अपनी सारी पैतृक सम्पत्ति खर्च कर डाली थी। अब उसके पास बस एक अच्छा कोट ही बच रहा था। एक दिन उसने मौसम के पहले ही प्रकट हुई एक अबाबील पक्षी को एक तालाब के किनारे चहचहाते तथा अठखेलियाँ करते देखा। उसे लगा कि गर्मी का मौसम आ गया है और उसने जाकर अपनी कोट को भी बेंच डाला। परन्तु जाड़े का मौसम अभी समाप्त नहीं हुआ था। कुछ दिनों बाद ही फिर से पाला पड़ा और सर्दी बढ़ गयी। उसने देखा कि वह अबाबील पक्षी तालाब के किनारे मरा पड़ा है। उसने खेद व्यक्त करते हुए कहा, "अभागे पक्षी! यह तुमने क्या किया? वसन्त ऋतु आने के पहले ही आ जाने के कारण न केवल तुम अपनी जान से हाथ धो बैठे, अपितु तुमने मुझे भी परेशानी में डाल दिया।"

सब कुछ उचित समय पर होना ही ठीक है।

उल्लू और अन्य पक्षी

एक उल्लू ने अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय देते हुए पक्षियों को सलाह दी कि जब बाँजफल के पौधों में अंकुरण होने लगे, तभी वे उसे जमीन से खींचकर उखाड़ दें और उसे बढ़ने न दें, क्योंकि इसी के फल से पक्षियों को पकड़ने का जहर निकाल कर उन्हीं की सहायता से उन्हें पकड़ा जायेगा। उल्लू ने पक्षियों को यह सलाह भी दी कि वे मनुष्यों द्वारा बोये हुए अलसी के बीज भी उखाड़ डालें, क्योंकि उसका पौधा उनके लिए हितकर नहीं है। और अन्त में एक धनुर्धर को आते देखकर उल्लू ने भविष्य-वाणी की कि यह पैदल चलनेवाला आदमी पंख लगे हुए ऐसे तीर चलायेगा, जो पक्षियों के पंखों से भी तेज उड़ेंगे। पक्षियों ने सोचा कि उल्लू अपने अहंकार में यह सब बातें कह रहा है और उसे पागल करार देकर उन लोगों ने उसकी बातों पर कान नहीं दिया। परन्तु बाद में जब उन्हें पता चला कि उसकी बातें सत्य थीं, तो वे उसके ज्ञान पर चकित होकर उसे सर्वाधिक बुद्धिमान पक्षी मानने लगे। इसीलिए जब उल्लू प्रकट होता है, तो वे उसे सर्वज्ञ के रूप में देखते हैं, परन्तु वह उन्हें कोई और सलाह नहीं देता और एकान्त में उनकी पुरानी मूर्खताओं पर खेद करता है।

सलाह देनेवाले अनेक मिलते हैं, परन्तु सलाह ग्रहण करनेवालों की संख्या अत्यन्त विरल है।

गौरैया और खरगोश

एक उकाब पक्षी ने एक खरगोश को पकड़ लिया। खरगोश अपने प्राण संकट में देख एक बच्चे के समान रोने लगा। एक गौरैया ने उसे देखा और सीख देते हुए बोली, "तुम जो इतनी तेजी से उछल-उछलकर दौड़ा करते हो, तुम्हारी वह तेजी कहाँ चली गई थी, जो तुम इस गरुड़ के पंजे में पड़ गये।" जब गौरैया इस प्रकार बोल रही थी, तभी एक बाज ने उसे दबोच लिया और मार डाला। इस पर खरगोश सन्तुष्ट होकर बोल उठा, "अहा, जब तुम अपने को सुरक्षित समझते हुए मेरे संकट पर खुश हो रही थी, तभी तुम्हें स्वयं भी वैसी ही परिस्थिति का सामना करना पड़ गया।

रहिमन गर्व न कीजिए, कबहुँ न हँसिए कोय।
अबही नाव समुद्र में, क्या जाने क्या होय।।

मच्छर और बैल

एक मच्छर ने एक बैल से कहा, "मैं इतना छोटा होकर भी स्वाधीन भाव से आदमी को काटता तथा उसका खून पीता रहता हूँ और तुम्हें क्या हो गया है, जो तुम इतने विशाल तथा बलवान होकर भी उसके अत्याचारों का प्रतिरोध न करते हुए दिन-रात उसके लिए परिश्रम करते रहते हो?" बैल ने उत्तर दिया, "मैं मनुष्यों के प्रति अकृतज्ञ नहीं होना चाहता, क्योंकि वे लोग मेरी बड़ी देखभाल करते हैं और प्राय: ही बड़े प्रेम के साथ मेरा सिर तथा कन्धे थपथपाते रहते हैं।" मच्छर ने कहा, "भगवान बचाये! तुम्हें पसन्द आनेवाली वह थपकी जब मुझे मिलती है, तो वही मेरा सर्वनाश सिद्ध होती है।"

एक का भोजन अन्य के लिए विषवत् भी हो सकता है।

बिगुलवादक की गिरफ्तारी

युद्ध में सैनिकों के आगे-आगे वीरतापूर्वक चल रहा बिगुलवादक शत्रुओं द्वारा पकड़ लिया गया। उसने चिल्लाकर पकड़नेवालों से कहा, "कृपया मुझे छोड़ दीजिए और अकारण ही बिना पूछताछ किये मेरा वध मत करें। मैंने आपकी सेना के एक भी आदमी को नहीं मारा है। मैं कोई अस्त्र-शस्त्र नहीं, केवल पीतल की यह बिगुल लेकर चलता हूँ।" वे लोग बोले, "इसी कारण तो तुम्हें मार डालना चाहिए, क्योंकि तुम स्वयं भले ही युद्ध नहीं करते, परन्तु तुम्हारा बिगुल बाकी सभी लोगों को युद्ध के लिए प्रेरित करता है।

भलाई या बुराई के लिए प्रेरित करनेवाला ही पुण्य-पाप का प्रमुख भागीदार होता है।

भलाइयाँ और बुराइयाँ

मनुष्य के जीवन में बुराइयों की संख्या अधिक होने के कारण एक बार उन सबने संगठित होकर सभी अच्छाइयों को बाहर खदेड़ दिया और पृथ्वी पर अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया। भलाइयों ने स्वर्ग में जाकर देवगुरु बृहस्पति से शिकायत की और अपने आक्रान्ताओ के लिए उचित सजा की माँग की। अच्छाइयों ने कहा कि उनकी बुराइयों के साथ कोई समानता नहीं है और वे बुराइयों के साथ नहीं रह सकतीं; चूँकि उनमें निरन्तर झगड़ा चलता रहता है, अत: भविष्य में वे बुराइयों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहतीं; और इसके साथ ही उनकी यह भी गुजारिश थी कि उनकी भावी रक्षा हेतु कुछ कठोर नियम भी बना दिये जायँ। बृहस्पति ने उनका अनुरोध स्वीकार किया और यह निर्णय दिया कि इसके बाद से बुराइयाँ एक-दूसरे के साथ ही धरती पर जायँ, पर अच्छाइयाँ एक-एक कर मनुष्य की बस्तियों में प्रवेश कर सकती हैं।

इसके फलस्वरूप सर्वत्र बुराइयों का ही बोलबाला देखने में आने लगा, क्योंकि वे टोली बाँधकर ही चलने लगी, जबकि अच्छाइयाँ बृहस्पति के आदेशानुसार सबको समान रूप से नहीं, बल्कि योग्य लोगों को ही एक-एक कर अलग अलग दी जाने लगीं।

दोष निकालने की सजा

प्राचीन यूनान की एक दन्तकथा के अनुसार बृहस्पति ने पहला मनुष्य बनाया, वरुण देवता ने पहला बैल बनाया और बुद्धि की देवी मिनर्वा ने पहला मकान बनाया। अपने कार्यों की समाप्ति के बाद उनमें विवाद छिड़ा कि किसका कार्य श्रेष्ठ है। उन लोगों ने मोमस-देवता को इसके लिए निर्णायक बनाया। परन्तु मोमस सबकी कला के प्रति ईर्ष्यालु होकर हर कृति के दोष बताने लगे। सबसे पहले उन्होंने वरुण की कृति का दोष निकालते हुए बताया कि उन्हें बैल की आँखों के नीचे सींग बनाने चाहिए थे, ताकि वह अच्छी तरह देख सके कि प्रहार कहाँ करना है। इसके उपरान्त वह बृहस्पति की रचना का दोष बताया कि उन्हें मनुष्य का हृदय बाहर बनाना था, ताकि सभी लोग अपने प्रति बुराई का भाव रखनेवाले के विचार पढ़ पाते और उनके पहले से ही उनसे बचने के उपाय करते। और अन्त में उसने मिनर्वा की कृति का मूल्यांकन करते हुए बताया कि उन्हें मकान के नीचे लोहे के पहिये बनाने चाहिए थे, ताकि यदि किसी को अपने पड़ोसी अच्छे नहीं लगे, तो उसे आसानी से अन्यत्र ले जा पाते।

इस प्रकार जान-बूझकर छिद्रान्वेषण होते देखकर बृहस्पति नाराज हो गये और न्यायाधीश के पद से बर्खास्त करके नगर से बाहर निकलवा दिया।

मुर्गी और कौआ

दड़बे में बन्द एक मुर्गी अपने बहुत-से चूजों को देखकर खूब प्रसन्नता व्यक्त कर रही थी। एक कौए ने उसकी बातें सुनकर कहा, "प्रिय मित्र, यह बेकार की बात बन्द करो। जितने ही अधिक लोग तुम्हारे परिवार में होंगे, उन्हें दड़बे में बन्द होते देखकर तुम्हें उतना ही अधिक दु:ख होगा।"

लोमड़ी और सिंह

एक सिंह को एक पिंजरे में कैद देखकर एक लोमड़ी उसके पास गयी और उसे बुरी तरह से चिढ़ाने लगी। सिह बोला, "लोमड़ी बहन, यह तुम नहीं, बल्कि मुझ पर आया हुआ दुर्भाग्य ही मुझे चिढ़ा रहा है।"

मनुष्य और जिन्न

एक आदमी और एक जिन्न के बीच दोस्ती हो गयी। एक बड़े सर्द दिन दोनों बैठकर बातें कर रहे थे, तभी आदमी अपने मुख में उँगलियाँ डालकर उन पर फूँक मारने लगा। जिन्न द्वारा इसका कारण पूछे जाने पर मनुष्य ने बताया कि बढ़े हुए ठण्ड के कारण वह अपने हाथों को गर्म करने के लिए ऐसा कर रहा है। उसी दिन बाद में जब दोनों एक साथ खाने को बैठे, तो भोजन बड़ा ही गरम था। मनुष्य भोजन से भरी एक तश्तरी को उठाकर अपने मुँह के पास ले गया और उस पर फूँक मारने लगा। जिन्न ने फिर इसका कारण पूछा। आदमी ने बताया कि खाना बहुत गरम होने के कारण वह उसे फूँक मारकर ठण्डा कर रहा है। जिन्न बोला, "जो व्यक्ति एक ही फूँक से गरम भी करता हो और ठण्डा भी करता हो, ऐसे आदमी के साथ मेरी दोस्ती नहीं निभ सकती।"

❖ (क्रमश:) ❖

गीता-अध्ययन की भूमिका (२)

स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज (परमाध्यक्ष, रामकृष्ण मठ तथा मिशन)

(अद्वैत आश्रम, मायावती से प्रकाशित होनेवाली प्रस्तुत लेखमाला के दो भाग है – 'गीता-अध्ययन की भूमिका' जीवन के विभिन्न प्रकार के कार्यो मे व्यस्त जगत् के विचारशील लोगो का गीता से परिचय कराने हेतु है और दूसरा भाग 'गीता की शक्ति तथा मोहकता' इस महान् ग्रन्थ पर दिये गये एक उद्बोधक व्याख्यान का अनुलिखन है। इन अंग्रेजी व्याख्यानो का हिन्दी अनुवाद हम क्रमशः प्रकाशित करेगे। – सं.)

हमारे इतिहास को लीजिए; उसमें आपको क्या मिलता है? उसमें हम देखते हैं कि यहाँ लगभग हर हजार वर्ष के अन्तराल के बाद एक महापुरुष का उदय होता है; और इनमें से प्रत्येक, युग की आवश्यकता के अनुरूप, शायद थोड़े भिन्न स्थान पर बल देते हुए उन्ही प्राचीन आदर्शों को नवजीवन प्रदान करता है। इसी कारण हमारी संस्कृति में एक अटूट निरन्तरता बनी रहती है। भारत अनेक संकटों से गुजरकर भी आज जीवित है। इस बात से हममें विनम्रता आनी चाहिए। हमें सदैव याद रखना होगा कि ईश्वर के अवतार माने जानेवाले इन महापुरुषों के कारण ही हमारी संस्कृति सुरक्षित रही है। हम इन महान् हस्तियों के बारे में चाहे जो भी धारणा रखें, उन्हें अवतार या कुछ और माने, पर जब राष्ट्रीय जीवन अपनी चरम पतन की अवस्था में पहुँच जाता है, तब वे आते हैं और उनके स्पर्श से राष्ट्र की मृतप्राय अस्थियों तथा मांसपेशियों मे एक नये जीवन का संचार हो जाता है। एकमात्र ईश्वर ही जीवन देने में समर्थ हैं; हम उन्हें ईश्वर कहें या मानव, वे विश्ववासियों की मरणासन्न अस्थियों तथा मांसपेशियों में एक नये जीवन का संचार करते हैं।

श्रीकृष्ण भी ऐसे ही एक महापुरुष हैं। भारतवर्ष के सम्पूर्ण इतिहास में मुझे श्रीकृष्ण के समान परम कर्मठ दूसरा कोई व्यक्तित्व नही दिखता। जिन्होंने महाभारत पढ़ा है, वे इस बात से सहमत होंगे। श्रीकृष्ण सभी के प्रिय हैं। जैसे आज की जनता अपने महान् नेताओं का स्वागत करती है, वैसे ही जब वे इन्द्रप्रस्थ आते हैं, तो हजारों लोग उनका स्वागत करने को एकत्र हो जाते हैं। ज़ब वे नगर की सड़कों से गुजरते हैं, तो लोग छतों तथा खिड़कियों से उनका दर्शन करते हुए उन पर फूलों की वर्षा करते हैं। ऋषि-मुनियों से लेकर साधारण किसान तक – सभी लोग उनके प्रति सम्मान का भाव रखते हैं। वे क्षत्रियों में श्रेष्ठ होकर भी विनम्र हैं। वे कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य आरम्भ करने के पूर्व धर्मात्माओं को प्रणाम करने जाते हैं। वे दीन-दुखियों तथा अभागों के मित्र हैं। इन्द्रप्रस्थ पहुँचने के बाद वे दुर्योधन के राज-दरबार का वैभव त्यागकर निर्धन विदुर की कुटिया में ठहरते हैं। वे शक्तिशाली हैं, राजा लोग उनके समक्ष नतमस्तक होते हैं और इसके बावजूद वे अपने लिए कोई साम्राज्य नहीं चाहते। वे ग्वाल-बालों के प्रिय गोपाल हैं। बाल-वृद्ध, नर-नारी, अपढ़-विद्वान् – सभी का उनके प्रति लगाव है। उनके समय के भारत में आपको सर्वत्र उनका प्रभाव देखने को मिलेगा। समाज के हर वर्ग में उनकी उपस्थिति महसूस की गयी थी।

श्रीकृष्ण एक कर्मठ व्यक्ति थे और उनके उपदेश भी ऊर्जा से युक्त हैं; वे शक्तिदायी विचारों के पुंज हैं। हमें इसी कृष्ण को समझना है। अब तक हमारे पास ऐसे कृष्ण थे, जो केवल आँसुओं तथा हमारे भीतर के मृदु भावों को ही प्रेरित करते थे। परन्तु गीता के कृष्ण पूरे देश को उठाने के लिए, उन्हें कर्मठ बनाने के लिए आते हैं। बँगला में एक गीत है, जिसमें अधःपतित भारत का उद्धार करने के लिए सुदर्शन-चक्रधारी कृष्ण का आह्वान किया गया है – (भावार्थ) –

अवनत भारत तुम्हें पुकारे
आओ सुदर्शनधारी मुरारी -

वे एक व्यक्ति है, जिन्होंने इस देश के प्रत्येक क्षेत्र में अपना प्रभाव स्थापित किया है। कृष्ण को निकाल देने से हमारी संस्कृति की हर मूल्यवान चीज चली जायेगी। हमारी कला, साहित्य, संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला, लोकनृत्य, आदि सभी पर उनका प्रभाव विद्यमान है। अनेक विदेशी लोग भारत के समृद्ध सांस्कृतिक विरासत से ईर्ष्या करते हैं।

इस संस्कृति का वेदों के धुँधले अतीत से उद्‌गम हुआ, फिर हजारों वर्षो की इसकी अबाध गति के दौरान अनेक सहायक नदियाँ अपनी शक्ति तथा समृद्धि के साथ इसमें विलीन हो गयी और आज यह सद्‌गुण, पवित्रता तथा शक्ति का एक विराट् उफनता हुआ महासागर हो चुका है। प्रत्येक हिन्दू न्यायसंगत रूप से अपने इस समृद्ध सांस्कृतिक विरासत का भागीदार होने पर गर्व कर सकता है। कृष्ण एक ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने इस संस्कृति को सशक्त तथा समृद्ध बनाया। जब मानव-जाति को हिन्दू, मुसलमान और ईसाई के रूप में विभाजित करने की कल्पना हुई, उसके काफी पहले से ही वे विद्यमान थे। अतः चाहे कोई हिन्दू हो या मुसलमान या कुछ अन्य, कृष्ण इस देश की प्रत्येक सन्तान की सम्पदा हैं। एक ऐसा समय आयेगा; जब जाति, मत तथा वर्ण से निरपेक्ष इस देश का हर व्यक्ति उन श्रीकृष्ण, बुद्ध तथा शंकराचार्य को हमारे राष्ट्रीय मानस का निर्माता मानेगा, जिन्होंने बिना किसी

भेद-भाव के भारतवासियों को एक समृद्ध सांस्कृतिक विरासत सौंप दी थी। यह संस्कृति सभी समुदायों की साझा सम्पत्ति है। कुछ ही दिनों पूर्व[१] मद्रास के 'हिन्दू' दैनिक में प्रकाशित अपने एक लेख में इंडोनेशिया के डॉ. सुकर्णो ने कहा था कि इंडोनेशिया के प्रत्येक नागरिक के रक्त में भारतीय संस्कृति विद्यमान है। अत: भारत में आनेवाले एक ऐसे समय की कल्पना कठिन नहीं है, जब सभी लोग प्रेरणा तथा मार्गदर्शन पाने के लिए एक ही प्राचीन संस्कृति की ओर उन्मुख होंगे।

जब हम अपनी वास्तविक अवस्था का अनुभव करते हैं, तब हमें अपने देश की संस्कृति में निभाई गयी श्रीकृष्ण की भूमिका का बोध होता है। महाभारत के श्रीकृष्ण एक सशक्त दार्शनिक और साथ-ही-साथ एक महान् कर्मी भी हैं। इसके बावजूद वे पूर्णत: अनासक्त थे। पृथ्वी के बलवान लोग, ऋषि-मुनि, महिलाएँ, बच्चे, किसान – सभी उनके प्रति सम्मान का भाव रखते थे।

गीता ऐसे ही एक सशक्त तथा कर्मठ व्यक्तित्व की शिक्षाएँ हैं और उन्होंने अपनी शक्ति तथा कर्मठता को अपने उपदेशों में ढाल दिया है। ऐसा कर्मठ सन्देश केवल उन्हीं लोगों के द्वारा समझा जा सकता है, जो स्वयं भी किंचित् परिमाण में उस शक्ति के अधिकारी हैं। जब छोटे लोग एक महान् विचार को अपनाते हैं, तो वे उसे अपने स्तर पर उतार लाते हैं, क्योंकि वे स्वयं उसके स्तर तक नहीं उठ सकते। पिछले हजार वर्षों के दौरान हम केवल भावुकतापूर्ण साहित्य की ही रचना कर सके हैं। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि देश ने केवल मृदु साहित्य को ही प्राथमिकता दी और इसके फलस्वरूप पिछले हजार वर्षों के दौरान लिखे गये अधिकांश साहित्य को यदि निचोड़ा जाय, तो उससे केवल आँसू ही निकलते हैं। ऐसे लोगों के हाथ में पड़कर गीता भी अपनी शक्ति को खो बैठी। परन्तु श्रीकृष्ण ने अपनी शिक्षाओं में दुर्बलता या भावुकतावाद को कोई स्थान नहीं दिया। अर्जुन के प्रति उच्चरित होनेवाले उनके प्रथम श्लोक में ही है – **कुतस्त्वा कश्मलम् इदम् विषमे समुपस्थितम्** – "इस संकट-काल में कहाँ से यह दुर्बलता तुममें प्रविष्ट हो गयी है?" उपनिषद् तथा गीता केवल शक्ति की बातें करते हैं। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, "शक्ति, शक्ति, उपनिषदों का प्रत्येक पृष्ठ मुझसे यही कहता है।" दुर्बल मन के लोग कभी शक्तिशाली विचारों को धारण नहीं कर सकते। इसके लिए प्रयास करते हुए वे अपनी लघुता के द्वारा ऐसे विचारों को हल्का कर डालते हैं। परन्तु जब हम अपने में थोड़ी शक्ति तथा ऊर्जा का विकास कर लेंगे, तब हमें गीता में कुछ ऐसा मिलेगा जो जीवन की हर परिस्थिति में सहारा देगा। जो लोग अपनी स्नायुओं को थोड़ा शान्त भर करना चाहते हैं और जीवन की कठिन परीक्षाओं का सामना करने से घबराते हैं, उनके लिए पुराणों में काफी सामग्री मिल जायेगी। परन्तु जो लोग कठोर संघर्ष के द्वारा उच्चतर जीवन की प्राप्ति के लिए प्रेरणा चाहते हैं, उन्हें गीता में ही यह यथेष्ट परिमाण में मिल सकेगी। केवल सबल लोग ही गीता का महत्त्व समझ सकते हैं। जैसा कि स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, "केवल हाथी ही सिंह का बल समझ सकता है, मच्छर नहीं।" गीता हमें शान्ति देकर निद्रा में निमग्न करने के लिए नहीं, अपितु हमें अपनी निद्रा तथा आलस्य से जगाकर सर्वोच्च आत्मानुभूति तथा आत्माभिव्यक्ति में अनुप्राणित करने के लिए है। गीता के श्लोकों में हमें ऊर्जावान बनाने, नये प्रकार से विचार करने में सक्षम बनाने की सामर्थ्य है; वे हमें पुरानी लीकों पर चलने नहीं देंगी।

शिष्यत्व में अर्जुन के प्राथमिक पाठ

जिस परिप्रेक्ष्य में गीता का सन्देश दिया गया था, अब तक हमने गीता के कुछ उन्हीं पहलुओं पर और साथ ही हिन्दू शास्त्रों में इसके स्थान के विषय पर चर्चा की। उस सन्दर्भ में मैंने गीता की शिक्षाओं के वैशिष्ट्य और इसके शिक्षक श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व पर कुछ कहा था। वह गीता के अध्ययन की भूमिका के रूप में था। आज हम इसके विषय-वस्तु में ही प्रवेश करेंगे, परन्तु ऐसा करने के पूर्व हम इसके प्रथम अध्याय में कुछ समय बितायेंगे।

पहले अध्याय में हमें वह परिवेश देखने को मिलता है, जिसमें गीता की शिक्षा दी गयी थी। यह एक नाटकीय पृष्ठभूमि है। प्राचीन भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध, कौरवों तथा पाण्डवों के बीच लड़े गये कुरुक्षेत्र के उस महान् युद्ध में, उसके महान् नायक अर्जुन, अपने सारथी के रूप मे श्रीकृष्ण को साथ लिए दो सुसज्जित सेनाओं के बीच खड़े हैं और दोनों तरफ के सैनिकों का निरीक्षण कर रहे हैं। सहसा एक विचित्र परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है – अपने ही सम्बन्धियों को सामने खड़े देखकर अर्जुन शोक से अभिभूत हो जाते हैं। उनकी स्नायुएँ शिथिल हो जाती हैं। अपने ही सम्बन्धियों से न लड़ने का संकल्प लेकर वे अपना गाण्डीव नामक विशाल धनुष नीचे रख देते हैं। उनके मन में एक तरह की घोर जुगुप्सा उत्पन्न होती है और वे युद्ध न करने का निश्चय करते हैं; वे सोचते हैं कि लड़कर अपने शत्रुओं को जीतने का प्रयास छोड़ देना कहीं अधिक उत्तम तथा नैतिक है, प्रतिरोध तथा युद्ध की दिशा में बढ़ने की अपेक्षा शत्रु द्वारा पराजित होकर मार दिया जाना कहीं बेहतर हैं। यह एक बड़ा ही मर्मस्पर्शी दृश्य है, जिसका गीता के प्रथम अध्याय में प्रभावी ढंग से वर्णन किया गया है। यह युद्ध तथा संघर्ष के परिवेश में, अपने भीतर और अपने चारों तरफ का युद्ध है; भावनाओ तथा आदर्शों के बीच, प्रेम तथा कर्तव्य के बीच का संघर्ष है।

१. ध्यान रहे कि लेखक द्वारा यह व्याख्यान १९४६ में दिया गया था।

जब कभी ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होती है, तब उसमें महत्त्वपूर्ण सम्भावनाएँ निहित रहती हैं। एक संकट एक महान् रचना का पूर्वाभास है; यदि पीड़ित व्यक्ति सुदृढ़ तत्त्वों से बना हो, तो संकट जितना ही बड़ा होगा, रचना भी उतनी ही उत्कृष्ट होगी। इससे एक रचनात्मक ज्ञान या सक्रिय विचार का जन्म होता है। इससे गीता के विचारों की चिरन्तन कर्मठता की व्याख्या हो जाती है।

सामान्य लोगों के जीवन में शायद ही कभी भावनाओं के ऐसे तीव्र संघर्ष का अनुभव करने का मौका आता है। हम शायद ही कभी अपने को ऐसी परिस्थिति में फँसा हुआ पाते हैं, जिसमें – 'करूँ या न करूँ' के विपरीत दिशाओं में जोरदार खिंचाव का अनुभव होता हो। परन्तु जो लोग सच्ची महानता की उपलब्धि करने को जन्मे हैं, उनके जीवन में ऐसे कई अवसर आते हैं, जिनमें वे स्वयं को ऐसी परिस्थितियों के बीच पाते हैं, जहाँ निष्ठाओं का संघर्ष उत्पन्न हो जाता है; और उनके लिए क्या ग्राह्य है तथा क्या त्याज्य है, इसका निर्णय कर पाना बड़ा कठिन हो जाता है। नैतिक जीवन के आकांक्षी प्रत्येक साधक के जीवन में विभिन्न तीव्रताओं वाले इस प्रकार के कर्तव्य-सम्बन्धी संघर्ष आते हैं। ऐसे अवसरों पर मानव-मन को एक तरह के प्रभावी मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है; गीता के दूसरे तथा उसके बाद के अध्यायों में श्रीकृष्ण हमारे समक्ष ऐसा ही मार्गदर्शन प्रस्तुत करते हैं।

पहले अध्याय में हमें उस नैतिक समस्या – कर्तव्य के स्वरूप और कर्तव्यों के बीच आपसी संघर्ष की समस्या का अद्भुत ऐतिहासिक निरूपण देखने को मिलता है। हमारे प्राचीन चिन्तन में भी यह समस्या तथा इस पर चर्चा है और यह दुनिया के हर तरह के नैतिक चिन्तन में विद्यमान है। गीता के दूसरे अध्याय में एक महान् दर्शन के आलोक में इस विषय पर चर्चा हुई है; और आगे आनेवाले अध्यायों में कर्म-अकर्म, त्याग-कर्तव्य, संन्यास-कर्मयोग पर चर्चा करते समय इस पर और भी विविधता के साथ विचार किया गया है। गीता के पहले अध्याय में ही कर्तव्य के विषय की प्रस्तुति अगले अध्यायों में दर्शन तथा नीतिशास्त्र का एक सशक्त भवन खड़ा करने के लिए आधार का कार्य करती है। पहले अध्याय में हमें एक ऐसा नाटकीय तत्त्व मिलता है, जो गीता की शिक्षाओं को अत्यन्त सौन्दर्य तथा उदात्तता प्रदान करता है। यह गीता के सन्देश को जीवन्तता प्रदान करता है; यह चर्चा को एक गम्भीरता का स्पर्श प्रदान करता है। यह चर्चा मात्र बौद्धिक नहीं है, अन्यथा यह अप्रभावी तथा व्यावहारिक जीवन से असम्बद्ध हो जाती। उसके स्थान पर, संघर्ष तथा युद्ध की अग्नि से उत्पन्न होने के कारण यह मनुष्य के लिए एक स्थायी महत्त्व के सन्देश के रूप में प्रकट हुई। इसमें संकट में पड़ा हुआ एक सच्चा जिज्ञासु एक महान् आचार्य के आमने-सामने खड़ा है। जिज्ञासु व्यावहारिक मार्गदर्शन की याचना करता है। जैसा कि स्वाभाविक है, ऐसी परिस्थिति में समस्या के मात्र बौद्धिक समाधान से काम नहीं चल सकता था। यहाँ सभी तथ्यों को ध्यान में रखकर तत्काल दिशा-निर्देश देना था। गीता अपने महान् आचार्य श्रीकृष्ण के माध्यम से ठीक यही करने को अग्रसर होती है। श्रीकृष्ण युद्ध के केवल एक निरपेक्ष द्रष्टा नहीं, बल्कि एक तरह से उसके भागीदार भी हैं। यह वास्तविकता गीता को, नैतिक समस्याओं पर कोरी बौद्धिक चर्चा की अपेक्षा कहीं अधिक दार्शनिक गहराई तथा नैतिक विस्तार प्रदान करती है।

अतः प्रथम अध्याय में हमारे पास अर्जुन का वह चित्र है, जिसमें वे अपने सम्बन्धियों, मित्रों तथा आचार्यों की सेना के सम्मुख खड़े हैं। वे करुणा तथा खेद से विचलित होकर कहते हैं, "ऐसा युद्ध करने से क्या लाभ? इस युद्ध में भाग लेने की जगह मैं एक संन्यासी बन जाना चाहूँगा।" अर्जुन मर्मस्पर्शी शब्दों में अपनी समस्या प्रस्तुत करते हैं और यहाँ तक कि

पुरखों की थाती (३)

अतिदानात् बलिर्बद्धो ह्यतिदर्पात् सुयोधनः ।
विनष्टो रावणो लोभाद्-अति सर्वत्र वर्जयेत् ।।

– अत्यधिक दान के कारण दैत्यराज बलि बन्धन में पड़े, अति गर्व के कारण दुर्योधन का नाश हुआ और अति लोभ के कारण रावण की दुर्गति हुई; अतएव किसी भी कार्य में अति करना उचित नहीं है।

अर्थानाम् अर्जने दुःखम् अर्जितानां च रक्षणे ।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थो दुःखभाजनम् ।।

– धन को अर्जित करने में और अर्जित किये हुए धन की रक्षा करने में बहुत दुःख उठाना पड़ता है। आय और व्यय दोनों में ही दुःख प्रदान करनेवाले, हे दुःख के आगार धन! तुम्हें धिक्कार है!

अहो दुर्जन-संसर्गात् मानहानिः पदे पदे ।
पावको लोहसंगेन मुद्गरैः अभिहन्यते ।।

– दुर्जनों का संग करने से व्यक्ति को पग-पग पर उसी प्रकार अपमान झेलना पड़ता है; जिस प्रकार कि लोहे का संग करने के कारण अग्नि को भी बारम्बार हथौड़े से पीटा जाता है।

अपने को युद्ध के लिए प्रेरित करने के लिए श्रीकृष्ण को फटकारते भी हैं, "इससे जो दु:ख उत्पन्न होंगे, क्या हम उसे नहीं जानते? चूँकि हम उसे जानते हैं, अत: ऐसे युद्ध से विमुख होना ही बेहतर होगा।" इसके बाद अर्जुन घोषणा करते हैं कि वे युद्ध नहीं करेंगे। अर्जुन के मन में भावनाओं का इतना अन्तर्द्वन्द्व है कि वे टूट जाते हैं; उनके धनुष-बाण हाथों से खिसककर गिर पड़ते हैं; उनकी वाणी अवरुद्ध हो जाती है और वे निढाल होकर अपने रथ में बैठ जाते हैं।

हमारे जीवन में इस तरह की परिस्थिति तब उत्पन्न होती है, जब हम द्वन्द्वात्मक अवस्थाओं के सम्मुखीन होते हैं। ऐसी सभी परिस्थितियों में जब हम अपने कर्तव्य का निर्धारण करने में असमर्थ हो जाते हैं और परिस्थितियाँ पहेली का रूप धारण कर लेती हैं, तब हम अर्जुन के समान व्यवहार करने लगते हैं। हमारी स्नायुएँ जवाब दे जाती हैं, परन्तु हमें इसका पता नहीं चलता। हम अपने व्यवहार को युक्तिसंगत ठहराने के लिए तर्कों का सहारा लेते हैं, परन्तु वे तर्क झूठे होते हैं और वे युक्ति तथा दर्शनशास्त्र की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। ब्राडले कहते हैं कि अधिकांश लोगों के लिए स्वाभाविक रूप से सत्य प्रतीत हो रहे मतों के समर्थन में गलत युक्तियों को ढूँढ़ना ही दर्शन है। यह युक्ति से नहीं, बल्कि यौक्तिकीकरण (युक्ति द्वारा समर्थन) से उपजा एक गलत दर्शन है। अर्जुन के साथ ऐसा ही हुआ; आसक्ति, भ्रम तथा शोक के अतिरेक के कारण, संकट के क्षणों में उनकी स्नायुओं तथा निर्णय-शक्ति ने जवाब दे दिया; और जब वे युद्ध से पीछे हटने हेतु 'अहिंसा', 'अप्रतिरोध' तथा 'मानवतावाद' की सहायता लेते हैं, तब हमें वहाँ यौक्तिकीकरण की प्रक्रिया ही क्रियाशील दिखाई देती है। अर्जुन जब कहते हैं कि युद्ध तथा हत्या से बेहतर तो यही होगा कि मैं स्वयं पीछे हट जाऊँ या मार डाला जाऊँ, उस समय उनके क्लान्त स्नायुओं को शान्त करने के लिए ही अहिंसा तथा अप्रतिरोध के महान् गुणों की सहायता ली जा रही है। वे श्रीकृष्ण से अपने तर्कों का समर्थन करने का अनुरोध करते हैं। पर बड़ी विचित्र बात यह है कि उन्हें समर्थन नहीं मिलता। दर्शन यौक्तिकीकरण का समर्थन नहीं कर सकता, क्योकि यह युक्ति पर आधारित है और यह किसी भी समस्या का समाधान देने के पूर्व उसकी समस्त परिस्थितियों तथा हालातों का आकलन करता है। अत: जब अर्जुन कहते हैं कि 'मैं लड़ना नहीं चाहता' और अपने इस निर्णय के लिए श्रीकृष्ण का समर्थन चाहते हैं, तो वे इसे न पाकर विस्मित रह जाते हैं। यहाँ दर्शन का प्रतिनिधित्व श्रीकृष्ण करते हैं और नैतिक द्वन्द्वों तथा उससे उत्पन्न उलझन की स्थिति का अर्जुन। इनमें से एक शान्त तथा सुव्यवस्थित है और दूसरा युद्ध के अपने संकल्प से विचलित, उलझनो से परिपूर्ण तथा विकल है। इस प्रकार प्रथम अध्याय की समाप्ति होती है, जिसे व्यास के अत्यन्त प्रभावी शब्दों में 'अर्जुन-विषाद-योग' का नाम दिया है। यहाँ दर्शन की शान्त युक्तियाँ तथा सक्रिय जीवन की अयौक्तिक उलझनें आमने-सामने हैं। भगवद्-गीता के अगले सत्रह अध्यायों में निहित जीवन-दर्शन इसी संघर्ष का फल है। ❖ (क्रमश:) ❖

❑❑❑

श्रीरामकृष्ण-स्तुतिः

रवीन्द्रनाथ गुरु

अव्यात्सदैव भगवान् मम रामकृष्णः
आनन्दजातपुलकान्वितकाय ईड्यः ।
इष्टानवद्यरुचिर स्मरणीयगाथः
ईशान्युपासकवरः क्षुदिरामसूनुः ।।१।।

– आनन्द से पुलकित शरीरवाले, स्तुति के योग्य, अनवद्य स्मरणीय मधुर चरित्रवाले, सर्वेश्वरी काली के श्रेष्ठ उपासक एवं क्षुदिरामजी के पुत्र मेरे प्रभु श्रीरामकृष्ण मेरी रक्षा करें।

उद्यद्दिवाकरवदुत्तम-राष्ट्रदीपः
ऊर्जो ददात्वधिगतेश्वर-तत्त्वरत्नम् ।
ऋष्यन्तरङ्ग-सुविवेक-सुखानुभूतिः
ॠसौख्यदोऽस्तु जगतां स महाविभूतिः ।।२।।

– उदीयमान सूर्य के समान राष्ट्र के लिए उत्तम दीप है, वे तत्त्व की उपलब्धि करनेवाले मुझे शक्ति प्रदान करें। जो ऋषियों के अन्तरंग, विवेक के आनन्द की अनुभूति करनेवाले वे विश्व की परम विभूति मेरे लिए सुखदायी हों।

ऌ मार्गदर्शकवरोऽद्य गदाधराख्यः
ॡ शारदामणिधवोऽस्तु गतिः समेषाम् ।
एकाद्वितीयशिवशक्तिविलोकशीलः
ऐश्वर्यशून्यभवतादजितेन्द्रियं माम् ।।३।।

– हे जगद्गुरो, गदाधर नामवाले तथा माँ श्रीसारदा के स्वामी, वे ही सभी प्राणियों के आश्रयदाता हैं। एक-अद्वैत, शिव-शक्ति के द्रष्टा, वे मुझ ऐश्वर्यहीन अजितेन्द्रिय की रक्षा करें।

ओङ्कारनिष्ठहृदयेऽस्तुमतिर्नराणाम्
औदार्यदे परमहंसवरे सुधर्मे ।
अद्यप्यशेषमहिमान्वितरामकृष्णात्
अन्यं न वेद्मि वरदात्समदर्शनाच्च ।।४।।

– सभी मनुष्यों की मति सद्धर्म में और ओंकार मे प्रतिष्ठित प्राणोंवाले तथा उदारता प्रदान करनेवाले श्रेष्ठ परमहंस मे लगी रहे, उन अशेष महिमा से युक्त, वरप्रदाता तथा समदृष्टि-सम्पन्न श्रीरामकृष्ण को छोड़कर मै अन्य कुछ भी नही जानता। ❑

परम पुरुषार्थ है मोक्ष

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय-समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, जगदलपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

धर्मग्रन्थों में मोक्ष की बात कही गयी है। मोक्ष को जीवन के परम प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया गया है। हिन्दू धर्म में चार पुरुषार्थ माने गये हैं – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इस प्रकार मोक्ष को चार पुरुषार्थों में प्रमुख तथा अन्य तीन पुरुषार्थों द्वारा प्राप्तव्य लक्ष्य के रूप में माना गया है।

वैसे मोक्ष का सरल अर्थ होता है मुक्ति। पर प्रश्न उठता है कि किससे मुक्ति? हमें किसने बाँध रखा है, जिससे हम मुक्ति चाहते हैं? इसके उत्तर में कहा जाता है कि हमें हमारी इन्द्रियों ने, हमारे मन ने बाँध रखा है। हम इन्द्रियों के गुलाम बन गये हैं। मन हमें जिधर चाहता है, नचाता रहता है। देह और मन की गुलामी को ही बन्धन माना गया है। इस बन्धन का हटना ही मोक्ष कहलाता है।

प्रश्न उठता है कि मनुष्य देह और मन का गुलाम क्यों हो गया है? इसलिए कि वह अपनी आत्मस्वरूपता को भूल गया है। उसने यह तथ्य विस्मृत कर दिया है कि वह आत्मा है। अपनी आत्मस्वरूपता को जगाने के लिए मनुष्य को विचार करना पड़ता है कि मैं देह नहीं हूँ, मन नहीं हूँ। देह सतत परिवर्तित हो रही है। वह चेतन नहीं हो सकती, वह मात्र जड़ है। चेतन वह है, जो इस परिवर्तन का अनुभव करता है। देह और मन सतत परिवर्तनशील होने के कारण जड़ हैं। मनुष्य के भीतर का जो चेतन तत्त्व देह और मन के परिवर्तनों का अनुभव करता है, उसी को आत्मा कहते हैं। मनुष्य जब एवंविध विवेक-विचार के द्वारा अपने को देह-मन से भिन्न आत्मतत्त्व के रूप में अनुभव करता है, उस अवस्था को मोक्ष कहते हैं।

शास्त्रों में कहा गया है - "मन एव मनुष्याणा कारणं बन्धमोक्षयोः" - अर्थात् मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष दोनों का कारण है। संसार की आसक्ति में पड़ा हुआ मन बन्धन का कारण है, पर संसार के भोगों से अनासक्त हुआ मन मोक्ष का कारण बन जाता है।

प्रश्न उठता है कि मन को अनासक्त कैसे बनावें? हम पहले कह चुके हैं कि धर्म और मोक्ष के समान अर्थ और काम को भी पुरुषार्थ माना गया है। हमने अर्थ और काम को तिरस्कार की दृष्टि से नहीं देखा है, उनकी अवहेलना नहीं की है, अपितु उनकी शक्ति को, महत्त्व को स्वीकार किया है। 'अर्थ' का तात्पर्य है सत्ता और 'काम' सृष्टि का बीज है। मनुष्य में अर्थ और काम की वृत्तियाँ रूढ़ हैं। ये मनुष्य को दलदल में भी फँसा सकती हैं तथा मुक्त गगन में भी उड़ा सकती हैं। जब मनुष्य केवल देह के धरातल पर ही अर्थ और काम का उपभोग करता है, तो मानो वह ससार-कीच में फँस जाता है, पर जब धर्म के द्वारा उन दोनों का नियत्रण करते हुए उन दोनों का उपभोग करता है, तो मोक्ष के उन्मुक्त गगन की ओर उड़ चलता है। अर्थ और काम का प्रवाह उद्दाम है। यदि प्रवाह पर रोक न लगे, तो वह अनियंत्रित रूप से फैलकर, प्लावन का रूप धारण कर कितने ही गाँवों को डुबाकर नष्ट कर देता है। पर जब उसी नदी पर बाँध बाँधा जाता है, तो वही जल नियत्रंण में आकर लोगों के अशेष कल्याण का हेतु बन जाता है।

इसी प्रकार यदि अर्थ और काम की वृत्तियाँ अनियंत्रित हों, तो वे मनुष्य का नाश कर देती हैं, पर जब धर्म के द्वारा उन दोनों को अंकुश में रखा जाता है, तो वे ही मनुष्य को मोक्ष की ओर बहा ले चलती हैं।

स्वामी विवेकानन्द मोक्ष को निःस्वार्थता के रूप में देखते हैं। उनकी दृष्टि में वही व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी है, जो पूरी तरह से निःस्वार्थ है। व्यक्ति में तनिक सा भी स्वार्थ के रहते वह मोक्ष से दूर है।

वे निःस्वार्थता को ही धर्म की कसौटी मानते हैं। जिसमें निःस्वार्थता जितनी अधिक है, वह उतनी ही मात्रा में धार्मिक है और वह उतना ही अधिक मोक्ष के रास्ते पर जायेगा। मोक्ष का फल मनुष्य को इसी जीवन में अनुपम आनन्द के रूप में प्राप्त होता है। देह, इन्द्रिय और मन की दासता से मुक्त हो उन्हीं को अपना दास बना लेना और अपनी इच्छा के अनुसार उनका परिचालन करना - यही मोक्ष का सर्वश्रेष्ठ फल है। ❑❑❑

रामकृष्ण-शरणं व्रज

डॉ. एस. एन. पी. सिन्हा
सेवानिवृत्त उपकुलपति, पटना विश्वविद्यालय

वेदान्त का चूड़ान्त ज्ञान, बुद्ध की महान् करुणा, शंकर का तात्त्विक बोध एवं ब्रह्मज्ञान से पूर्ण स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरुदेव भगवान श्रीरामकृष्ण परमहंस को अपने श्रद्धा-सुमन इन शब्दों में अर्पित किये थे – ''अब एक ऐसे अद्भुत महापुरुष के जन्म लेने का समय आ गया था, जो शंकर की प्रतिभा से सम्पन्न एवं चैतन्य के अद्भुत, विशाल, अनन्त हृदय का एक ही साथ अधिकारी हो, जो देखे कि सब सम्प्रदाय एक ही आत्मा, एक ही ईश्वर की शक्ति से परिचालित हो रहे हैं और प्रत्येक प्राणी में वही ईश्वर विद्यमान है, जिसका हृदय भारत में अथवा भारत के बाहर दरिद्र, दुर्बल, पतित सबके लिये द्रवित हो, लेकिन साथ ही जिसकी विशाल बुद्धि ऐसे महान् तत्त्वों की परिकल्पना करे, जिनसे भारत में अथवा भारत में बाहर सब विरोधी सम्प्रदायों में समन्वय साधित हो और इस अद्भुत समन्वय द्वारा वह एक हृदय और मस्तिष्क के सार्वभौमिक धर्म को प्रकट करे और वे उत्पन्न हुए। वे अद्भुत महापुरुष थे – श्रीरामकृष्ण परमहंस।

''यदि मैंने जीवन भर एक भी सत्य शब्द कहा तो वह उन्हीं का और जो असत्य, भ्रमपूर्ण अथवा मानव-जाति के लिये हितकारी नहीं, तो वे सब मेरे ही शब्द हैं। ... वे तो अनन्त भावमय हैं। उनके कृपा-कटाक्ष से एक क्यों लाखों विवेकानन्द पैदा हो सकते हैं। श्री गुरुदेव ने स्वयं कहा था – "जो राम थे, जो कृष्ण थे, वे अब इस शरीर में रामकृष्ण हैं, केवल तेरे वेदान्त के मत से नहीं।'' श्री गुरुदेव जैसे पुरुषोत्तम ने इससे पहले जगत् में और कभी जन्म नहीं लिया था। संसार के घोर अन्धकार में अब यही महापुरुष ज्योतिस्तम्भ स्वरूप हैं। समदर्शन ही उनका भाव था। उनकी दृष्टि में सभी धर्म सत्य हैं। वे कहते थे – 'धर्मजगत् में सभी धर्मों का स्थान है।' मैं सत्य का दर्शन करता हूँ – सतत प्रयास, साधना से सभी लोग ईश्वर की अनुभूति प्राप्त कर सकते हैं। उनका उद्घोष था – 'जीव-सेवा ही शिव-सेवा है'।

''श्रीरामकृष्ण की पूजा एक महान् अवतार के रूप में होती है। उनका जन्मदिवस एक धर्मोत्सव के रूप में मनाया जाता है। धर्म का सार्वलौकिक, सार्वकालिक व सार्वदेशिक स्वरूप अपने जीवन में निहित कर लोक-कल्याण हेतु वे अवतीर्ण हुये। इस भूमि से धर्म का बारम्बार लोप हुआ है और भगवान ने इसे पुनरुज्जीवित किया है। वर्तमान पतन की गहराई के सामने पहले के सब पतन गोष्पद के समान तुच्छ जान पड़ते हैं। परन्तु इसके प्रथम निदर्शन स्वरूप परम कारुणिक श्री भगवान रामकृष्ण पूर्व सभी युगों की अपेक्षा अधिक पूर्णता प्रदर्शित करते हुये सर्वभाव समन्वित एवं सर्वविद्यायुक्त होकर युगावतार के रूप में अवतीर्ण हुये हैं।

''यह नवयुगधर्म समस्त जगत् के लिये, विशेषतः भारत के लिये महा-कल्याणकारी है और इस युगधर्म के प्रवर्तक श्री भगवान रामकृष्ण परमहंस पहले के समस्त युगधर्म-प्रवर्तकों के पुनः संस्कृत प्रकाश हैं। जिस शक्ति के उन्मेष मात्र से दिग्दिगन्त व्यापी प्रतिध्वनि जाग्रत हुई है, कल्पना से उसकी पूर्णावस्था का अनुभव करो; व्यर्थ सन्देह, दुर्बलता और जाति-सुलभ ईर्ष्या-द्वेष का परित्याग कर इस महायुगचक्र-प्रवर्तन में सहायक बनो।''

भगवान कृष्ण ने गीता में अर्जुन से कहा था –

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

– सम्पूर्ण धर्मों को, कर्तव्यकर्मों को मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान, सर्वाधार परमेश्वर की ही शरण में आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।

यहाँ यह विचार करना आवश्यक हो जाता है कि आज सब धर्मों का समन्वित रूप ही नयी सदी में सामाजिक-नैतिक-आध्यात्मिक उन्नति के लिये लोकहितकारी 'धर्म' के रूप में प्रतिष्ठित हो सकता है, जो हमें हिंसात्मक प्रवृत्ति से बचाने में सक्षम होगा और यह भगवान रामकृष्ण परमहंस के 'शरण' में जाने से यानी सर्वभाव समन्वय-साधना-भक्ति से ही सिद्ध होगा। उनकी जयन्ती पर यह 'समभाव सुमन' उन्हीं के चरणों में समर्पित है – **त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।**

शताब्दियों से सहिष्णुता हमारे समाज की एक विशिष्ट एवं उल्लेखनीय परम्परा सहप्रवृत्ति रही है। अनेकता, विविधता तथा विचित्रता के बावजूद समन्वय की धारा भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्राणतत्त्व रहा है। भेद में अभेद, बहुत्व में एकत्व, खण्ड में अखण्ड (अद्वैत) का दर्शन ही भारतीय दर्शन की विशिष्टता रही है। **आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति, समोऽहं सर्वभूतेषु, सर्वत्र समबुद्धयः, समः सर्वेषु भूतेषु** – आदि चिन्तन भारतीय संस्कृति की आत्मा रही है।

अपने-अपने वैशिष्टय को सुरक्षित रखते हुए समन्वय के सूत्र में बँधे रहने के कारण सभ्यता की प्राणसत्ता सुरक्षित रही है। यही कारण है कि महान् शायर इकबाल के ये शब्द – **कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी** – सार्थक होते रहे। विश्वकवि रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने इस सारभूत तत्त्व को पहचाना था, तभी उन्होंने कहा था – ''यहाँ के ऋषियो ने

'ब्रह्म ही सत्य है' घोषित किया – ईश्वर है कहाँ, इसी ज्ञान के चलते तमाम विविधताओं के बावजूद इसके अन्त:करण में समन्वय की धारा – 'ऐक्य' की भावना बहती रही है। अभेद दर्शन ब्रह्मज्ञानी ही कर सकते हैं - **ज्ञानम् अभेद दर्शनम्।**''

भारत को ज्ञानभूमि कहा गया है। भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है कि ज्ञान सबसे पवित्र है – **न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रम् इह विद्यते**। भारतीय संस्कृति में आत्मानुभूति की उपलब्धि को श्रेष्ठ माना गया है। विश्व के साथ आत्मीयता का सम्बन्ध और एक मनुष्य का अन्यान्य मनुष्यों के साथ प्रेमसूत्र में बँधने का मूलमन्त्र **आत्मज्ञान** ही है। यहाँ की संस्कृति 'मानव-संस्कृति' रही है – मनुष्य के 'मनुष्यत्व की'। तभी यहाँ के ऋषियों के कण्ठ से यह वाणी प्रस्फुटित हुयी – **पुरुषात् न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गति:।**

शिकागो में सन् १८९३ में आयोजित धर्म-सम्मेलन में स्वामी विवेकानन्द ने कहा था – "हम लोग न केवल सब धर्मों के प्रति सहिष्णुता में विश्वास करते, वरन् सब धर्मों को सच्चा मानकर स्वीकार करते हैं। भारत ने विश्व को सहिष्णुता तथा सार्वभौमिक स्वीकृति – दोनों की ही शिक्षा दी है।'' मानवता को ज्ञात सभी बड़े धर्म और तार्किक प्रणालियाँ, ईसाई मत, यहूदी धर्म, इस्लाम से लेकर (हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म के रास्ते होते हुए) कन्फ्यूसियस और ताओ धर्म हमारी पृथ्वी ग्रह के इसी भाग में जन्मे थे। इसी भूमि की आध्यात्मिक ऊर्जा विश्व में विलीन हो विश्व के संकटकालीन क्षणों में प्रकाशवान ऊर्जा बन प्रेरणा देती रही है। ज्ञान और विज्ञान का भी समन्वय होता रहा है। ऋग्वैदिक काल के ऋषि के उद्घोष मन्त्र – **आ नो भद्रा क्रतवो यन्तु विश्वत:** – के अनुरूप नहीं।

इसी विलय को ध्यान में रखकर महाकवि रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने लिखा था – "आओ तुम आर्य लोगों, आओ तुम अनार्यलोगों, ... अपने दिलों को शुद्ध करो और बाकी सब लोगों के हाथ थाम लो।'' भारतीय सभ्यता में सहिष्णुता की जो गहरी जड़ें जमी हुई हैं, यहाँ पन्थ-निरपेक्ष सूफी सन्तों से लेकर सम्राट् अशोक और अकबर तक सभी ने सांस्कृतिक मूल्यों और सामूहिक चेतना को अपने प्रयासों से समृद्ध किया। इस कड़ी में कबीर, गुरुनानक, स्वामी विवेकानन्द तथा महात्मा गाँधी के नाम उल्लेखनीय हैं। सामाजिक सहिष्णुता एवं आध्यात्मिक उदारवादी चिन्तन भारतीय सभ्यता के बुनियादी घटकों में प्रमुख हैं और सर्वव्यापी भी। इतिहास आरम्भ से ही यहाँ के चिन्तकों ने **वसुधैवकुटुम्बकम्** – अर्थात् सम्पूर्ण मानवता के लिये सद्भावना की विचारधारा को ही मूलवर्ती धारा बनाकर रखा। महान् फ्रांसीसी साहित्यकार रोमाँ रोलाँ के शब्दों में – "इसकी गरम मिट्टी से दिव्य दृष्टि का विशाल महातरु विकसित हुआ। हजारों शाखाएँ तथा करोड़ों प्रशाखाएँ, जिसके अन्दर एक ही प्राणरस प्रवाहित हो रहा है, पर उनका सारतत्व और विचार आपस में घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं।'' महान् इतिहासविद् अर्नाल्ड टायनबी ने कहा था – "मानव इतिहास के इस अत्यन्त भयावह क्षण में केवल भारतीय विचारधारा ही मानव जाति की मुक्ति का एकमेव मार्ग है। इसमें इस प्रकार की भावना और रूझान है कि जिसमें पूरी मानव जाति को 'एक कुटुम्ब' के रूप में विकसित करना सम्भव हो सकता है। आज के इस अणु-परमाणु के युग में अपने विनाश से बचने का यही एकमेव विकल्प है।''

आज साम्प्रदायिक हठधर्मिता, वीभत्स धर्मान्धता सर्वत्र व्याप्त है – मानवता रक्तरंजित है – सभ्यता विध्वंसित हो रही है। वीभत्स दानवी ताण्डव का साम्राज्य व्याप्त है। उत्पीड़न है, पारस्परिक कटुता चरम रूप में फैल रही है। स्वामी विवेकानन्द ने शिकागो धर्मसंसद में ऐसी स्थितियों का गम्भीर मूल्यांकन करते हुये धर्म में 'समन्वय' के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुये कहा था – "एकता किसी एक धर्म की विजय और बाकी धर्मों के विनाश से सिद्ध नहीं होगी, न ही धर्म-परिवर्तन से। प्रत्येक को चाहिये कि वह दूसरों के सारभाग को आत्मसात् करके पुष्टिलाभ करे और अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए अपने निजी नियम के अनुसार वृद्धि को प्राप्त हो। शुद्धता, पवित्रता और दयाशीलता किसी सम्प्रदायविशेष की एकान्तिक सम्पत्ति नहीं है, प्रत्येक धर्म ने श्रेष्ठ एवं उन्नत चरित्रवाले स्त्री-पुरुषों को जन्म दिया है – यदि ऐसा कोई स्वप्न देखे कि अन्यान्य सारे धर्म नष्ट हो जायेंगे और केवल उसका धर्म ही जीवित रहेगा, तो मुझे उस पर दया आती है और मैं यह स्पष्ट बताये देता हूँ कि शीघ्र ही सारे प्रतिरोधों के बावजूद, प्रत्येक धर्म की पताका पर लिखा रहेगा – 'सहायता करो, लड़ो मत', 'परभाव-ग्रहण न कि परभाव-विनाश', 'समन्वय और शक्ति, न कि मतभेद और कलह'।''

महाभारत में भगवान वेदव्यास ने कर्णपर्व में कहा है – **बहून् यो बाधते धर्मो न स धर्म: कुधर्म तत्, अविरोधी तु यो धर्म: स धर्म: सत्यविक्रम** – अर्थात् "जो बहुत-से लोगों को पीड़ा पहुँचाए, बलपूर्वक जिसे लोगों को मानने को विवश किया जाये, वास्तव में उसे धर्म नहीं कहा जा सकता, वह तो कुधर्म है, अधर्म है – हे सत्य विक्रम! जो धर्म अविरोधी है, किसी को हानि नहीं पहुँचाता, किसी की मान्यता पर आघात नहीं करता, वही सच्चा धर्म है।''

धर्म वस्तुत: हमारी अन्त:प्रवृत्ति है, जिसके द्वारा हम विकसित होते हैं। इस समग्र आध्यात्मिक जीवन-व्यवस्था के व्यावहारिक रूप में हम विभिन्न सम्प्रदायों – कन्फ्यूसियश, शिन्तो, हिन्दू, मुसलमान, जैन, बौद्ध, जरथुस्त्री, यहूदी आदि को देखते हैं, लेकिन सबों के अन्दर एक सूत्र है यानि सभी

धर्मों के बीच आधारभूत एकता है। आध्यात्मिकता और नैतिक सदाचरण ही सबका आधार है। इस दृष्टि से सभी धर्मों की 'आत्मा' एक है। पन्थ और सम्प्रदाय भले ही धरौंदे हों, परन्तु धर्म तो अनन्त सागर है। विराटता का उद्घोषक है। ऋग्वेद में कहा गया है – **एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति**। हम सब एक ही आध्यात्मिक सत्ता का अंश होने के कारण **अमृतस्य पुत्राः** हैं – विशाल कुटुम्ब के सदस्य हैं – **वसुधैव** [illegible]– भूमि हमारी माता है और हम पृथ्वी की सन्तान हैं – **माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः**।

हिंसा, आतंक, असहिष्णुता, सन्देह, असन्तोष व अबाध भोग के वातावरण से बचने के लिये अहं का विसर्जन और **आत्मवत् सर्वभूतेषु** या **आत्मौपम्य दृष्टि** की आवश्यकता है। विकृतियों से मुक्ति के लिये आज धर्मों में समन्वय, सद्भाव एवं समत्व की जरुरत है। समन्वय का अर्थ है – 'स्व' का विस्तार – प्रेम, करुणा और मैत्री का विस्तार। समभाव है धर्म। आत्मा-आत्मा में समत्वभाव ही धर्म है। विकृतियों से मुक्त होने के लिये सद्भाव एवं समन्वय ही मार्ग है। जहाँ समन्वय का भाव है, वही धर्म की ज्योति प्रज्ज्वलित रहती है। हिंसात्मक प्रवृत्ति का अन्त समन्वय से ही सम्भव है। इसलिए 'धर्म-विचार-दर्शन' में 'समवाय' दृष्टिकोण ही शुद्ध है – सात्त्विक है। मनुष्य-मनुष्य के बीच में **आत्मौपम्य भाव** को समचेतित करने से लेकर विश्वव्यापी प्रभाव में विश्वशान्ति के लिये उपयुक्त मार्ग 'समन्वय' का ही है – 'स्व-पर-भेद' के नाश से ही **लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु** का मार्ग प्रशस्त होगा। सम्राट् अशोक के शिलालेखों में सर्वधर्म-समभाव के उत्कृष्ट भाव की झलक मिलती है। यथा – "जो अपने धर्म की प्रशंसा और दूसरे के धर्म की निन्दा करते हैं, वे वस्तुतः अपने धर्म का ही निरादर करते हैं। श्रेष्ठता तो यह है कि सभी धर्मों के प्रति समादर का भाव हो। धर्म में समन्वय की भावना ही उत्कृष्ट है – **समवाय एव साधु** अर्थात् धर्म में समवाय ही शुद्ध दृष्टिकोण है। इस्लाम मजहब के मामले में किसी भी प्रकार के जबरदस्ती के खिलाफ है। पवित्र कुरान शरीफ में कहा गया है – **ला इक राह फिदिनी** (सुरा २, आयत-२५६)। एक अन्य स्थान पर भी इस पवित्र धर्मग्रन्थ में पैगम्बर को सम्बोधित करते कहा गया है – "और तेरा सब (प्रभु) चाहता तो धरती में जितने लोग हैं, सबके सब ईमान ले आते, फिर क्या तू लोगों को विवश करेगा कि वे ईमानवाले हो जायँ।" (१०/२५६)

विदित है कि कभी राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने कहा था – "यदि मनुष्य अपने धर्म के हृदय तक पहुँच जाय, तो वह स्वतः अन्य धर्मों के हृदय तक पहुँच जायेगा।" सभी धर्म वस्तुतः समभाव की भाषा है। सबके मूल में 'प्रेम, करुणा और दया' की भावना है। सबों की आत्मा एक है। गाँधीजी ने कहा था – "सत्य ही ईश्वर है। उन तक पहुँचने के लिये धर्म एक माध्यम है।" उनका प्रिय भजन था – **दया धर्म का मूल है, मूल पाप अभिमान**।

महान् दार्शनिक सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने कहा था – "सम्पूर्ण विश्व परस्पर टकराव और असहिष्णुता जैसी हठधर्मी प्रवृत्तियों से प्रभाव से आक्रान्त एवं क्षत-विक्षत हुआ है। पन्थ और विचारधारा-विशेष ने मानवता को अपने ढ़ंग से संचालित करने का प्रयास किया है। धर्म और राजनीति ने अपने अतिरिक्त अन्य जीवन-दर्शन के प्रति आक्रामक रूख अपनाया है। उन्मादपूर्ण व्यवहारों के कारण धर्म की आत्मा विनष्ट हुई है। मानव-जाति के समक्ष दो विकल्प हैं – प्रथम – परस्पर प्रेम, भाईचारा एवं सहयोग के वातावरण को चुनना और द्वितीय – भय, संशय एवं परस्पर ईर्ष्या में जीना। धर्म एवं मानव जाति का भविष्य उसके द्वारा चुने गये विकल्प पर ही निर्भर करता है। हमें सोचना होगा कि परस्पर समन्वय एवं सहमति के भाव से ही मानव जीवन में आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना सम्भव है। सम्राट् अशोक का सद्विचार है – **समवाय एव साधुः** – अर्थात् धर्म में समवाय ही शुद्ध दृष्टिकोण है।

स्पष्टतः भारतीय दृष्टिकोण में सारे धर्मों का निचोड़ एक है। सारे धर्म दैहिक-दैविक-भौतिक तापों से मुक्ति की कामना करते हैं। शान्ति की कामना भारतीयता की असली पहचान रही है – **सर्वशान्तिः शान्तिरेव शान्तिः** तथा **सर्वे भवन्तु सुखिनः, मित्रस्य चक्षुणा समीक्षामहे** – अर्थात् "सभी सुखी हों, हम एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखें।" नई सदी में हमारी प्रार्थना सुख-शान्ति और समन्वय की ही होगी। यथा –

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै – ॐ शान्ति।।

अर्थात् "हम सब परस्पर एक दूसरे से मिलकर धर्म, राष्ट्र, संस्कृति एवं विश्व की रक्षा करें। हम सब मिलकर त्याग से भोग करें, साथ-साथ मिलकर पराक्रम करें, हम सब तेजस्वी बनें तथा किसी भी प्रकार के द्वेष से बचें, तभी विश्व में शान्ति, सद्भाव का वातावरण होगा – **सा मा शान्तिरेधि**। ❑❑❑

जीवन का लक्ष्य

(उन्नति और विश्वशान्ति का राजमार्ग)

स्वामी सत्यरूपानन्द

मनुष्य का जीवन एक अन्तहीन यात्रा या अन्धी दौड़ नहीं है। मनुष्य का जन्म जीवन में एक महान् लक्ष्य की प्राप्ति के लिये हुआ है। यह लक्ष्य क्या है? विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्दजी ने हमें बताया है कि मानव-जीवन का लक्ष्य है अपने महान् दिव्य स्वरूप की अनुभूति और अभिव्यक्ति। वे कहते हैं "प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य एवं आन्तरिक प्रकृति को वशीभूत करके आत्मा के इस ब्रह्म भाव को व्यक्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है।"

मानव-जीवन की अशान्ति और दुखों का सबसे बड़ा कारण यही है कि मनुष्य आज लक्ष्यहीन जीवन जी रहा है या उसने अनित्य भौतिक सुखो को ही जीवन का चरम लक्ष्य मान लिया है। व्यक्ति और समाज दोनों के दुख और अशांति का कारण यही है। अत: आज की सर्वप्रथम आवश्यकता यही है कि हम मानव-जीवन के इस महान् उद्देश्य पर विचार करें। उस पर चिन्तन और मनन करें। तथा अपने आप की परीक्षा कर देखें कि कही हमारा जीवन एक लक्ष्यहीन अन्धी दौड़ तो नहीं हो गया है। कहीं हम केवल भौतिक सुखों की ओर ही तो नही भाग रहे हैं?

यदि ऐसा है, तो हमें तत्काल उसका उपाय करना चाहिये। यह उपाय क्या है? यह उपाय है स्वामी विवेकानन्द द्वारा बताये गये जीवन लक्ष्य पर विचार करना, उस पर गम्भीरता से मनन कर उसे हृदयंगम करना। अपने ब्रह्म भाव का; अपनी दिव्यता और महानता का चिन्तन करना। इस प्रकार दिव्य भावों का चिन्तन करने पर अनित्य भौतिक सुखों की असारता का बोध हमें धीरे-धीरे होने लगेगा। यह बोध हमें जीवन की लक्ष्यहीनता से मुक्त कर देगा तथा हमें महान् दिव्य जीवन की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देगा। इसके फलस्वरूप हमारे भीतर सुप्त शक्तियाँ धीरे-धीरे जागने लगेंगी और तब हम इसी जीवन मे अपने ब्रह्म भाव का अनुभव करने में समर्थ हो सकेंगे।

इस प्रक्रिया का प्रारंभ कहाँ से करें? विचारों में महान् शक्ति है। स्वामी विवेकानन्द जी कहते हैं "यदि पदार्थ में शक्ति है तो विचार सर्वशक्तिमान है। विचारो की इस महान् शक्ति को अपने जीवन पर प्रभाव डालने दो। अपने मन को अपनी सर्वशक्तिमत्ता, अपनी गरिमा, अपनी महिमा के महान् विचारों से परिपूर्ण कर दो।"

यही रहस्य है जीवन में सफलता का। यही उपाय है जीवन लक्ष्य की प्राप्ति का। मानव-जीवन का यह एक मूलभूत सत्य है कि अपने विचारों में परिवर्तन के द्वारा मनुष्य अपने चरित्र में, अपने जीवन में, आमूल परिवर्तन कर सकता है। अत: जीवन की सफलता का प्रथम सोपान है दिव्य तथा पवित्र विचारों को मन में बार-बार लाना तथा निम्न और अशुभ विचारों को मन से बाहर निकाल फेंकना। यदि मन में अशुभ विचार उठें तो उनके विपरीत पवित्र एवं शुभ विचारो को अध्यवसाय पूर्वक बार-बार मन में लाने का प्रयत्न करना।

पहले-पहल निम्न विचारों के विरुद्ध पर्याप्त संघर्ष करना पड़ता है। किन्तु जब मनुष्य दृढ़ संकल्प होकर अध्यवसाय पूर्वक निम्न विचारो को त्याग उच्च विचारो के चिन्तन का निरन्तर प्रयास करता है, मन में उच्च एवं पवित्र विचारों का पोषण करता है, तब धीरे-धीरे अशुभ विचारों की शक्ति क्षीण होने लगती है और फिर जीवन में ऐसा भी समय आता है कि मनुष्य के मन में निम्न तथा अशुभ विचार उठते ही नही। उसका मन सदैव उच्च और पवित्र विचारो से परिपूर्ण रहता है। इस प्रकार उच्च और पवित्र विचारों के सतत चिन्तन से मनुष्य के भीतर की सोई हुई महान् शक्ति जाग उठती है। उस शक्ति के जागरण के फलस्वरूप मनुष्य की दुर्बलताएँ दूर हो जाती है। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि रिपु ऐसे व्यक्ति के मन को विक्षुब्ध नहीं कर पाते। उल्टे ऐसा व्यक्ति स्वयं उन रिपुओं को पराजित कर उन्हें अपने अधीन कर लेने मे समर्थ हो जाता है।

इस प्रकार वह अपनी आन्तरिक प्रकृति को वशीभूत कर लेता है और जिस व्यक्ति ने अपनी आन्तरिक प्रकृति को वशीभूत कर लिया है उसके लिये बाह्य प्रकृति को भी वश में करना सहज हो जाता है। जिस व्यक्ति ने अपनी आंतरिक और बाह्य प्रकृति को वशीभूत कर लिया है – उसके लिये अपने बाह्य भाव को पूर्णत: जागृत कर उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति करना संभव हो उठता है। ऐसे ही व्यक्ति संसार के सच्चे सहायक और हितैषी होते हैं। ये ही लोग समाज के संस्कारक और मार्गदर्शक होते हैं। इनके मार्गदर्शन मे ही समाज की सर्वागीण उन्नति तथा कल्याण सम्भव होता है। जिस समाज में ऐसे आत्मविजयी व्यक्तियो की संख्या जितनी अधिक होगी, वह समाज उतना ही उन्नत और समृद्ध होगा। वही समाज विश्वबन्धुत्व तथा विश्वशान्ति स्थापित करने मे समर्थ होगा। यही व्यक्ति और समाज की उन्नति का राजमार्ग है। ❑❑❑

रहिमन पानी राखिए

भैरवदत्त उपाध्याय

रहीम कवि ने कहा था कि मनुष्य को पानी रखना चाहिये। उन्होंने पानी की महिमा व गरिमा को समझा होगा; बूँद-बूँद को तरसते, पानी के अभाव में दम तोड़ते लोगों को देखा होगा; बेपानी – बेआबरू लोगों की टीस अपने हृदय से महसूस की होगी, तभी तो उन्होंने पानी रखने का बहुमूल्य सुझाव दिया।

पानी का जीवन में बड़ा महत्त्व है। देह में पानी है। रक्त में पानी है। पानी की मात्रा कम होने पर जीवन संकट में पड़ जाता है। तीन-चौथाई भाग में पानी समुद्र के रूप में लहरा रहा है। सृष्टि के आरम्भ में पानी-ही-पानी था और अन्त में भी पानी-ही-पानी रहेगा। परमात्मा ने सबसे पहले पानी की ही सृष्टि की थी – **अप एव ससर्ज आदौ**। सृष्टि के आदिपुरुष मनु अपनी नौका मैं बैठकर पानी में तैरते रहे। पृथ्वी पानी से उभरी। मनु ने अपनी नौका को किनारे लगाया और मानवीय सृष्टि चल पड़ी। पानी का जीव-जगत् पर बड़ा उपकार है। पानी हमारी मूल जरूरत है। वायु के बाद उसका दूसरा क्रम है। वह जीवन की स्रोत और आधार है। इसलिए जल तथा जीवन एक-दूसरे के पर्याय हैं। संस्कृत-कोशकार अमरसिंह ने **जीवनं जलम्** कहकर इसकी पुष्टि की है। प्राणी पानी है। वह व्यक्ति की ओजस्विता और तेजस्विता का प्रतीक है। वह शक्ति, शील और सौन्दर्य की त्रिवेणी है; गुणों की झलमलाती आभा है; व्यक्तित्व के लावण्य की तरलता है; स्वाभिमान और आत्मसम्मान की कान्ति है; आचार-चन्द्रिका की धवलिमा है; संवेदनशीलता की सुन्दरी के अंगों का मोहक आकर्षण है। यह तेजोदृप्तता है। पुंजीभूत तप के सूर्य की चमक है। यह सृजनधर्मी आध्यात्मिक अपार्थिव रेडियम है, जिससे भास्वरित रश्मियाँ चतुर्दिक् निरन्तर प्रसृत होकर सचेतन और अचेतन जगत् में स्वानुकूल परिवर्तन उत्पन्न करती हैं। यह तेजस्विता का मोहक इन्द्रजाल है, जो लक्षित व्यक्ति को संज्ञानावस्था में आकर्षित कर सात्विक भावों से आप्लावित करता है। तेज अर्थात् पानी मानवीय व्यक्तित्व का आवश्यक गुण है। इसी कारण वैदिक ऋषि ने प्रार्थना की थी – हे प्रभो, तू तेजोरूप है, मुझे तेज दे – **तेजोऽसि तेजो मयि धेहि**। गायत्री मन्त्र में भगवान सवितृदेव से वरेण्य तेज की ही याचना की गयी है। गीता की दैवी सम्पदाओं में तेज देवत्व का आधान है।

तेज अर्थात् पानी के मर जाने पर हमारे व्यक्तित्व-मोती का पानी उतर जाता है, तब स्वाभिमान मिट जाता है। लोभी और कामी में पानी नहीं होता। उसका पानी मर जाता है। अपमानित या समाज द्वारा निन्दित होकर भी उसका 'स्व' नही जागता। वह जीवन भर किसी का पानी भरकर जीना पसन्द करता है, पर काम और लोभ की जंजीरें तोड़कर स्वातंत्र्य का ससम्मान जीवन नहीं जीता। जिसमें पानी नहीं उसमें धैर्य नहीं। कुत्ता भोजन की प्रत्याशा में अपने स्वामी के पैरों में गिरता है, पेट दिखाता है, तब कहीं भोजन पाता है, पर हाथी बड़े धैर्य से स्वामी को देखता है और दीनता-प्रदर्शन के बिना ही भोजन पा लेता है। लोभी पाप की कमाई करता है, दूध में पानी मिलाता है, पर कभी एक ही झटके में पानी की कमाई पानी में चली जाती है। कुछ लोग ऐसे होते है दूसरों की थाली का घी देखकर ललचा जाते हैं, उनके मुँह में पानी आ जाता है। कुछ लोग तो पानी में आग लगाने की कला में बड़े माहिर होते हैं। लोग उन्हें कुछ भी कहें, कितनी भी लानतें दें, पर वे कभी पानी-पानी होना नही चाहते। उनकी आँखों मे पानी नहीं होता और उन पर न कभी पानी चढ़ता है और न कभी घड़ों पानी पड़ता है। वे घाट-घाट का पानी पीये होते हैं। जिसने घाट-घाट का पानी पीया है, भला उसे पानी कौन पिला सकता है? कौन उसे पराभूत कर सकता है? वे किसी को पानी नही देते और न उन्हें पानी लगता है। उनकी नसों में खून नही, पानी बहता है। जिनकी नसों का खून पानी हो गया है, उनमें स्वाभिमान कहाँ होगा? कुल, समाज और देश का गौरव कहाँ होगा? उनमें चमचमाता तेज नहीं हो सकता। वे पानीदार नहीं हो सकते। जिन पर मनुष्यता का असली पानी चढ़ा है, वह कभी उतरने वाला नहीं है। पानी उतर जाने पर नकली गहने अपनी मूल्यवत्ता खो बैठते हैं, पर असली गहने सदैव मूल्यवान बने रहते हैं। पानीदार जानता है कि नकली गहनो की चमक अधिक होती है, अत: वह पानी की चमक से चौंधियाता नहीं है। मरुस्थल मे फँसा प्यासा हिरन चमक के चक्कर में ही अपने प्राण खो देता है। समाज में पानीदार की ही प्रतिष्ठा होती है। वही उबरता है। बेपानीदार कभी सम्मान नही पाता।

अतएव जो मान चाहते हैं, उनसे अपेक्षा है कि वे अपने पानी की रक्षा करे। अपने भीतर हीनता की भावना न आने दें। यदि मनुष्य का पानी उतर गया, उसे आत्मगौरव की अनुभूति न हुई और उसमें हीनता की ग्रन्थि पनप गयी, तो वह कही का नही रहा। फिर उसका मूल्य कुछ नहीं। उसकी उपयोगिता एवं महत्ता समाज के लिये नगण्य है। मोती का मूल्य उसके पानी से, उसकी चमक से है। पानीदार मोती ही बाजार मे बिकेगा, ग्राहक हाथो-हाथ उसे उठायेंगे और हार मे गूँथकर कण्ठ में धारण करेंगे। जो मोती पानीदार नही है, जिसका पानी उतर गया है, उसे कौन पूछेगा? चूने की भी तभी तक उपयोगिता है, जब तक उसमें चमक है, सफेदी है। पानी मरने पर, चूना भी मर जाता है, चमक चली जाती है।

शेष अगले पृष्ठ पर

सत्संग की महिमा

डॉ. आशा गुप्ता
अवकाशप्राप्त प्राध्यापिका, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

योगवाशिष्ठ (निर्वाण/२०/३९) में सत्संग को चिन्तामणि कहा गया है – **सत्संग-चिन्तामणितः सर्वसारम् अवाप्यते।** – सत्संगरूपी चिन्तामणि से सबकी सारभूत ज्ञानवस्तु प्राप्त होती है। सत्संग की महिमा, विषय की ध्वनि बहुत साधारण लगती है। बड़ा प्रचलित शब्द है सत्संग। पर इसका रसायन क्या है, यह वही जानता है, जो नित्य सत्संग करता है, श्रवण करता है। अध्यात्मपरक कथाएँ, सन्तों के उपदेश, नीति-धर्म सम्बन्धी बातें जानना, शास्त्र पढ़ना – यह सब नित्य करना उतना ही जरूरी है, जितना कि स्नान-भोजन आदि करना।

शरीर को ही अपना अस्तित्व समझनेवाले हम शरीर की देखभाल की बड़ी चिन्ता करते हैं। शरीर की साफ-सफाई, सजावट एवं पोषण पर बड़ा ध्यान देते हैं, पर मनुष्य-देह के विशेष लक्षण रूप हृदय-मन की ओर उदासीनता दिखाते हैं। हृदय का पोषण करने हेतु हम माता-पिता, भाई-बन्धु, विवाह, सन्तान, इष्ट-मित्र, उत्सव आदि को काफी समझते हैं। बुद्धि की खुराक के लिये शिक्षा, विद्या, विज्ञान, टी.वी., राजनीति या ऐसी ही भौतिक गतिविधियों तक सीमित रहते हैं।

तीर्थ जाना, व्रत आदि करना, अनेक प्रकार के कर्मकाण्ड भी जीवन के अंग बन गये हैं, जिन्हें करके हम धर्मप्रवण होने को दम्भ करते हैं। ऐसे में जैसे ही कर्मों का तेज घूमता हुआ चक्र रुकता है, सभी लोग एक खालीपन का, नीरसता का अनुभव क्यों करते हैं? क्या हम पशु की तरह केवल बलपूर्वक किसी-न-किसी कर्म में लगे रहने के लिये बनाये गये हैं? शारीरिक श्रम, सम्बन्धों के निर्वाह के लिये कुछ-न-कुछ करते रहना, धनार्जन, वस्तुओं का रख-रखाव, यह सब जब तक चलता रहता है या मेले उत्सव, यात्रा, विवाह सम्बन्धी निमंत्रण, सभाएँ, इस प्रकार का कुछ-न-कुछ लगा है, दैनिक जीवन में तब तक सब ठीक-ठीक लगता है।

पर ऐसे भी क्षण आते हैं, जब कोई कार्य नहीं होता, जो है उसे करने में मन नहीं लगता, नींद नहीं आती, भूख भी नहीं लगती, तब क्या स्थिति होती है? आजकल की भाषा में बोर होते हैं। नई पीढ़ी के साथ यह समस्या अधिक है। तेजी, तेजी, हर बात में तेजी! सोचने को जरा भी अवकाश नहीं मिलता। संगीत है तो इतना तेज, वाहन है तो इतना तेज, स्पर्धा है तो भीषण। तात्पर्य यह कि इस नई पीढ़ी के लिए विचार करने के लिए समय न होना ही शान्ति का उपाय है।

जो लोग पिछली पीढ़ी के हैं, अपने जीवन की संध्या के सुन्दर रंगों का अवलोकन कर रहे हैं, उनके लिए सत्संग में जाने का क्या अर्थ है? एक बहन कहती हैं – बहुत महात्माओं के प्रवचन सुन लिये, कितनी बार भागवत सुन ली, रामायण सुन ली, मैंने सब सुन रखा है, अब रोज-रोज का यहाँ-वहाँ सत्संग में क्या जाना? लेकिन मैं यह भी देखती हूँ कि उनकी जिन्दगी में वह सुख-शान्ति नहीं है, जो नित्य सत्संगप्रिय लोगों के मन में, जीवन में है। यह बात मुझे कुछ यों लगती है मानो कोई कहे – बहुत नहा लिये, बहुत चाय पी ली, इतने वर्ष खाना खाते रहे, अब क्या रोज-रोज नहाना, चाय पीना, खाना खाना। सोचने की बात है। शरीर के लिए तो सब कुछ रोज ताजा चाहिए, पर हृदय-बुद्धि के लिये बासी चलेगा। जबकि हमारे हृदय-बुद्धि देह से कहीं अधिक संवेदनशील हैं और उन्हें प्रतिक्षण सब कुछ नया चाहिये। सौन्दर्य की परिभाषा देते हुए काव्यशास्त्र में कहा गया है – **क्षणे क्षणे यन्नवताम् उपैति तदेव रूप-रमणीयताया** – सौन्दर्य वही है जो प्रतिक्षण नया लगे। जिसे भगवत्कथा में, सत्संग में, शास्त्र में, नित्य नया अनुभव हो, वही सच्चा अध्यात्मप्रेमी है। जिसका जी भगवत कथा से उब गया वह सच्चा रसिक नहीं है।

रामचरित जे सुनत अघाहीं।
रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥ मानस, ७/५३/१

फिर देह का दृष्टान्त लें – जैसे रोगी को भूख नहीं लगती, अच्छा-से-अच्छा खाना स्वादिष्ट नहीं लगता, वैसे ही जो हृदय से रोगी हैं, अर्थात् भाव-विचार के सन्दर्भ मे जो स्वस्थ नहीं हैं, उन्हें सत्संग अच्छा नहीं लगता। जो सम्बन्धों में, धन में, वस्तुओं में, पद में, यश में आसक्त है, उसे भला सत्संग कैसे अच्छा लगेगा? इसीलिये योगवाशिष्ठ (निर्वाण/४१/५९) में भगवान शिव वशिष्ठजी से कहते हैं –

जीवं विवेकिनमिहोपदिशंति तज्ज्ञानो
बालामुद्भ्रममसन्मयमार्यमुक्तम्।
अज्ञं प्रशस्ति किल यः कनकावदातां
सस्वप्रदृष्टपुरुषाय सुतां ददाति॥

– इस जगत में ज्ञानीगण सुयोग्य पात्रों को ही उपदेश दिया करते हैं; क्योंकि भ्रान्तियों से ग्रस्त, आर्यों द्वारा परित्यक्त, मूढ़ तथा अज्ञानी को उपदेश देना वैसा ही है जैसा कि अपनी स्वर्ण

पिछले पृष्ठ का शेषांश

फिर उसमें किसी दिवाल को, उसकी गन्दगी मिटाकर सफेद बनाने की ताकत नहीं रहती, किसी का मूँह रचाने के भी काबिल वह नहीं रहता। वह निर्जीव, निष्प्राण और निस्तेज हो जाता है। जब तेजोहीन निर्जीव पदार्थ ही अपनी उपयोगिता और महत्ता खो देता है, तब गैर-पानी का आदमी अपनी औकात से चुक जाय, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? अपनी औकात को, अपने मूल्य को बनाये रखने के लिये उसे पानी रखना ही होगा। रहीम की नेक सलाह को मानना ही होगा –

रहिमन पानी राखिये, बिनु पानी सब सून।
पानी गये न उबरै, मोती, मानुस, चून॥

के समान सुन्दरी कन्या को किसी स्वप्नदृष्ट पुरुष को देना।

हिन्दू धर्म के सभी ग्रन्थों में सत्संग की बड़ी महिमा बताई गई है। भगवान स्वयं सामने नहीं आते, सत्संग में बैठनेवाले को प्रतिक्षण उनका अनुभव होता है। चाहे भगवान की कथा हो या अध्यात्म की वार्ता, श्रोता का चित्त उतनी देर विश्राम की स्थिति में रहता है, शान्त, स्थिर, आत्मोन्मुख, भगवच्छवि का दर्शन करता हुआ, राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, जैसे रिपुओं से दूर, **तदेजति तन्नैजति** की अनुभूति में डूबा, आत्मानुभूति की गहराइयों में, भगवत्-सौन्दर्य की ऊँचाइयों में, आनन्दाकाश में भ्रमण करता हुआ भी स्वयं में पूर्ण, स्थिर, शान्त। अपने इष्टदेव की कृपा के बिना यह सत्संग सुलभ नहीं होता –

बिनु सतसंग न हरि कथा, तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गयें बिनु रामपद, होई न दृढ़ अनुराग ।। ७/६१

– सत्संग के बिना भगवान की कथा सुनने को नहीं मिलती, उसे सुने बिना मोह दूर नहीं होता और मोह गये बिना श्रीराम के चरणों में सुदृढ़ प्रीति नहीं होती।

सत्संग कोई यों ही मिल जाने की वस्तु नही है कि बाजार में गये, सौ-पचास रुपये दिये या माघ मेले के किसी कैम्प में गये, भोग-भण्डारे के हजार-पाँच सौ किसी महात्मा के चरणों में चढ़ाये और सत्संग मिल गया। ऐसा बिल्कुल नहीं है।

सतसंगति दुर्लभ संसारा।
निमिष दण्ड भरि एकउ बारा ।। ७/१२३/६
सतसंगत मुद मंगल मूला।
सोइ फल सिधि सब साधन फूला ।। १/३/८

– पल भर के लिए भी, क्षण के लिए भी, एक बार भी इस संसार में सत्संग को पा लेना अत्यन्त दुर्लभ है। ... सत्संग आनन्द तथा कल्याण का मूल है; सत्संग की सिद्धि ही फल है और अन्य सभी साधन तो फूल मात्र हैं।

यह सत्संग जब मिल जाता है तो संसार की सारी दु:ख सरणी का अन्त स्वयमेव हो जाता है –

पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता।
संतसंगति संसृति कर अंता ।। ७/४५/६

– पुण्यो के समूह के बिना सन्त से भेंट नही होती और एक बार सन्त मिल गये, तो समझो कि संसार का अन्त हो गया।

भगवान की भक्ति भला बिना सत्संग के सम्भव है –

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी।
बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी ।। ७/४५/५

– भक्ति स्वतंत्र और सभी सुखों की खान है, परन्तु सत्संग के बिना जीव को इसकी प्राप्ति नही हो सकती।

मन में न जाने कितने संशय, कितने भ्रम पलते रहते हैं। यों ही नही विलीन होते। इन्हें सुलझाना है, समाप्त करना है, तो बहुत काल तक सत्संग करने से ही सम्भव हो सकता है –

तबहिं होइ सब संसय भंगा।
जब बहु काल करिअ सतसंगा ।। ७/६१/४

साधुसंग से जन्म सफल हो जाता है, सारे भय मिट जाते हैं – **मम सफलमिहाद्य जन्मसाधो सकल भयापहरो हि साधुसंग: ।। (योगवा., निर्वाण. २०/४१)** – चूँकि महात्माओं का संग सारे भयों का नाश करनेवाला है, अत: आज यहाँ मेरा जन्म सफल हुआ।

श्रीमद्भागवत् के प्रारम्भ में ही (माहात्म्य, २/७६) सत्संग के विषय में एक बहुत सुन्दर श्लोक है –

भाग्योदयेन बहु जन्म समर्जितेन
सत्संगमं च लभते पुरुषो यदा वै।
अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकार
नाशं विधाय हि तदोदयते विवेक ।।

– जब अनेक जन्मों से संचित पुण्यों का उदय होने से मनुष्य को सत्संग मिलता है, तब वह उसके अज्ञानजनित मोह तथा मद रूपी अन्धकार का नाश करके विवेक का उदय होता है।

योगवाशिष्ठ में वशिष्ठ जी श्रीरामजी से कहते हैं –

मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वार: परिकीर्तिता: ।
शमो विचार: सन्तोषश्चतुर्थ: साधुसंगम: ।।
वही, मुमुक्षु/११/५९

– शम, विचार, सन्तोष तथा चौथा साधुसंग – ये मोक्षद्वार के चार द्वारपाल कहे गये है।

साधु संगतरोर्जातं विवेककुसुमं सितम्।
रक्षन्ति ये महात्मानो भाजनं ते फलाश्रय: ।।
वही, मुमुक्षु/१६/२

– जो महात्मागण सत्संग-रूपी वृक्ष पर उत्पन्न होनेवाले विवेक-रूपी निर्मल पुष्प की रक्षा करते हैं, वे मोक्ष-रूपी फल-सम्पदा के भागी होते हैं।

वशिष्ठ जी ने सन्तोष को परम लाभ और सत्संग को परमगति कहा है –

सन्तोष: परमो लाभ: सत्संग: परमा गति: ।
विचार: परमं ज्ञानं शमो हि परमं सुखम् ।।
वही, मुमुक्षु/१६/१९

– सन्तोष समस्त लाभो मे सर्वश्रेष्ठ लाभ है, सत्संगति परम गति है, आत्मविचार परम ज्ञान है और शम परम सुख है।

निर्मल साधुसंगतिरूपी गंगा में स्नान ही तीर्थ-स्नान है, माननीय साधु-महात्माओं की दान-मान आदि सब उपायो से सेवा ही दान है, यज्ञ है। राग-द्वेषरहित, सन्देहशून्य, अन्त:करण की ग्रन्थियों से रहित जो साधुजन हैं, उन्हे बड़े परिश्रम से ऐसे ढूँढ़ना चाहिये। जैसै निर्धन मनुष्य मणि ढूँढ़ता है। सत्संग से ही अज्ञान मिटता है, मानस-पीड़ा समाप्त होती है।

❑ ❑ ❑

आध्यात्मिक-प्रश्नोत्तरी

(विवेक-ज्योति के शुरुआती वर्षों में पाठकों के प्रश्न तथा तत्कालीन सम्पादक स्वामी आत्मानन्द जी द्वारा लिखित उत्तर भी मुद्रित हुआ करते थे। वही से चुने हुए अंशो का पुनर्मुद्रण किया जा रहा है। – सं.)

६. प्रश्न – *आपका 'धर्म' शब्द से क्या तात्पर्य है? मेरी समझ में तो धर्म के ही कारण खून-खराबियाँ होती हैं, मानवता आपस में कटती-मरती है। पाकिस्तान और भारत के दंगे क्या धर्म के ही कारण नही हुए?*

उत्तर – मनुष्य शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का मिश्रण है। शुभ प्रवृत्तियाँ उसे उदारता और पर-दु:ख-कातरता की ओर ले जाती हैं, जबकि अशुभ प्रवृत्तियों से वह स्वार्थी, ओछा, लोलुप एवं वासनामय होता जाता है। धर्म शुभ प्रवृत्तियों को उभाड़ता है, पनपाता है और अशुभ प्रवृत्तियों का दमन करता है। संसार का कोई भी धर्म मनुष्य को आपस में लड़ने के लिए नहीं कहता, बल्कि धर्म तो सबको एकता की डोर में बाँध देना चाहता है। धर्म की परिभाषा देते हुए भीष्म पितामह महाभारत में कहते हैं –

धारणात् धर्म इत्याहु: धर्मो धारयति प्रजा: ।
य: स्यात् धारणसंयुक्त: स धर्म इति निश्चय: ।।

अर्थात्, जो धारण करता है, इकट्ठा लाता है, अलगाव को दूर करता है, उसे धर्म कहते हैं। ऐसा धर्म प्रजा को धारण करता है। जिसमें प्रजा को एकसूत्रता में बाँध देने की ताकत है, वह निश्चय ही धर्म है।

उपर्युक्त परिभाषा से धर्म का स्पष्ट स्वरूप सामने आता है। आप इससे स्वयं ही विचार कर सकते हैं कि धर्म कैसे खून-खराबियो के लिये जिम्मेदार ठहराया जा सकता है? यह आजकल एक सस्ती चर्चा है कि धर्म ही समस्त दोषों का कारण है। पर वास्तव में धर्म दोषी नही है। दोष तो हमारा है और वह यह है कि हम धर्म के निर्देशों को जीवन में नहीं उतारते। मनुष्य में स्वाभाविक ही विभाजन की प्रवृत्ति है। धर्म इस प्रवृत्ति पर रोक लगाता है।

यदि आपके तर्क को थोड़ी देर के लिए स्वीकार भी कर लिया जाय कि धर्म के कारण खून-खराबियाँ होती हैं, दंगे होते हैं, तो हम एक प्रश्न आपके सामने रखेगे कि जो एक ही धर्म के माननेवाले होते है, वे क्यो आपस मे लड़ते-मरते हैं? एक ही ईसाई धर्म के माननेवाले कई चर्चों में बँट गये है और आपस में वैसे ही लड़ते है जैसे दूसरे धर्मवालो से। इस्लाम धर्म भी कई सम्प्रदायों में बँटकर मार-काट पर उतारू होता है। शिया-सुन्नी के झगड़े प्रसिद्ध ही हैं। हिन्दू धर्म के भी कई सम्प्रदाय हैं, जो एक दूसरे को नीचा दिखाने की ताक में रहते हैं। इन सबका क्या कारण है? आप शायद कहेंगे कि सम्प्रदाय भी धर्म के अन्तर्गत आते हैं, अत: सम्प्रदायों के झगड़े को भी धर्म का झगड़ा कहा जा सकता है।

यदि ऐसा है तो एक दूसरा प्रश्न रखता हूँ – पूर्वी पाकिस्तान में एक ही सम्प्रदाय के लोगों में भी मार-काट की खबर छपी है। वह किस प्रकार? बंगाली मुसलमान और बिहारी मुसलमान – दोनों आपस में लड़ रहे हैं। यह क्यों? एक ही सम्प्रदाय के आसामियों और बंगालियो में लड़ाई हो गई, दंगा हो गया। यह क्यों? आप कहेंगे कि यह प्रान्तीयता-वाद के कारण हुआ। जो हो, पर यहाँ तो धर्म नहीं था। वैसे ही श्वेत और अश्वेत, पूँजीवाद और साम्यवाद तथा इस प्रकार के अनेक द्वन्द्वों के चलते जो खून-खराबियाँ होती है, वहाँ पर तो धर्म नहीं रहता, फिर धर्म पर ही आक्षेप क्यों?

तात्पर्य यह हुआ कि विभाजन मनुष्य के स्वभाव में है और धर्म उस विभाजन की प्रवृत्ति पर रोक लगाता है। जितने भी महान् धर्मप्रचारक, धर्मसंस्थापक हो गये हैं, सबकी वाणी विश्व-बन्धुत्व के गीत गाती है; सारे धर्म एक ही सत्य का बखान करते है और मनुष्य की स्वाभाविक कमजोरियों को जीत लेने का आह्वान करते हैं। इस दृष्टिकोण से यदि आप धर्म को देखे, तो आपकी धर्म-सम्बन्धी धारणा में आमूल परिवर्तन हो जायेगा और धर्म को विध्वंसक कहने के बजाय आप उसे विश्व का संरक्षक ही कहेंगे।

७. प्रश्न – *आजकल नीति के पथ पर चलनेवाले को ही अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है – ऐसा क्यों?*

उत्तर – यह केवल आज ही नहीं, सब समय ऐसा होता आया है। रामायण और महाभारत इसके प्रमाण हैं। राम और सीता आजीवन कष्ट सहते रहे, पाण्डवगण पग-पग पर कठिनाइयो का सामना करते रहे। अत: नीति के पथ पर चलनेवालो को कठिनाइयाँ और बाधाएं पुरस्कारस्वरूप मिलती हैं। यह आग है जिससे सोने का मल जलकर, सोना निखर उठता है। नीतिवान् व्यक्ति विघ्न-बाधाओं के ताप मे तपकर खरे निकल आते हैं। जो सचमुच मे नीति और धर्म के पालक हैं, वे ऐसी परीक्षा को भगवान का वरदान मानते हैं। अस्थिर

चित्तवाले व्यक्ति ही उसे बाधा और विपत्ति समझते हैं।

८. प्रश्न – *हिन्दू धर्म को सनातन धर्म क्यों कहते हैं तथा वेदों को अपौरुषेय क्यों कहा गया है? सनातन धर्म का हिन्दू धर्म नाम कैसे पड़ा?*

उत्तर – हिन्दू धर्म को सनातन कहने का तात्पर्य यह है कि वह अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। इतिहास की पहुँच हिन्दू धर्म के मूल उद्गम तक नहीं जाती। जैसे अन्य धर्मों के प्रवर्तक और संस्थापक होते हैं, वैसे हिन्दू धर्म के नहीं हैं। उदाहरणार्थ, ईसाई धर्म ईसा पर, इस्लाम धर्म मुहम्मद पर, पारसी धर्म जरथुस्त्र पर, बौद्ध धर्म बुद्ध पर तथा इसी प्रकार अन्य धर्म अपने-अपने प्रवर्तकों की नींव पर खड़े हैं। पर हिन्दू धर्म की बात निराली है। इसका कोई प्रवर्तक नहीं – यह मानव-हृदय में आत्मा की अनुभूति से उपजा है। इसी कारण इसे सनातन कहते हैं और इसीलिए यह अपौरुषेय भी कहलाता है। अपौरुषेय का तात्पर्य है कि इसे किसी पुरुष ने नहीं बनाया; किसी व्यक्ति ने वेदों को नही लिखा। मानव-हृदय में – जिज्ञासु ऋषि-हृदय में – आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी सत्यों की जो अनुभूतियाँ उतरीं, उन्हीं अनुभूतियों का शब्दबद्ध रूप ये वेद हैं।

'हिन्दू' शब्द मूलत: भारतीय नहीं है। यह फारसी मुख से निकला हुआ शब्द है। उस समय सिन्धु नदी के इस पार बसनेवाले भारतवासियों को सम्बोधित करने के लिए फारसियों द्वारा हिन्दू शब्द का प्रयोग किया जाता था। फारसी में 'स' का उच्चारण 'ह' होता है, अत: 'सिन्धु' उनके लिए 'हिन्दू' हो गया। तभी से हमने भी अपने लिए हिन्दू शब्द को स्वीकार कर लिया। अत: हम देखते हैं कि हिन्दू शब्द एक भौगोलिक सीमा का द्योतक है और उसके अनुसार सिन्धु नदी के इस पार बसनेवाले समूचे भारतवासी ही हिन्दू हैं।

९. प्रश्न – पुराण का खोखलापन इसी से सिद्ध है कि पार्वती को हिमालय की कन्या बताया है, गंगा के पुत्र उत्पन्न किये हैं तथा और भी कितनी अजीबो-गरीब बातों का वर्णन है। क्या पर्वत और नदी के भी पुत्र-पुत्री हो सकते हैं?

उत्तर – अपने निष्कर्ष में इतने उतावले न बनें। एकदम इस प्रकार निष्कर्ष निकाल लेना पुराणों का नहीं, बल्कि मानव-मस्तिष्क का खोखलापन है। पुराणों की कथाएँ रूपकों के सहारे कही गई हैं। इन रूपकों में गूढ़ अर्थ भरा है, जिसे समझने के लिए तत्कालीन इतिहास, परम्पराओं और आचार-विचारो के गहन अध्ययन की आवश्यकता है। ऊपर-ऊपर पृष्ठ पलटनेवालों के लिए वह भले ही बेतुकी कहानी-सी प्रतीत हो, परन्तु जो अन्वेषक और खोजी वृत्ति के हैं, उन्हें उसमें गम्भीर, जीवनोपयोगी अर्थ भरा मिलेगा। चिन्तन के द्वारा उन्हें समझने का प्रयत्न करें। ❖ **(क्रमश:)** ❖

श्री सदानन्द योगीन्द्र कृत

वेदान्त–सार (२)

अनुवादक – स्वामी विदेहात्मानन्द

(समग्र उपनिषदों में प्रतिपादित तत्त्वज्ञान को 'वेदान्त' की संज्ञा दी गयी है। अनुमानत: १५३८ ई. में श्री सदानन्द योगीन्द्र द्वारा विरचित यह 'वेदान्त-सार' ग्रन्थ लिखा। इसमें वेदान्त के लगभग सभी महत्त्वपूर्ण बातों का सहज तथा क्रमबद्ध रूप से प्रतिपादन हुआ है। अपने पाठको के लिए हम इसका एक सुबोध अनुवाद प्रस्तुत कर रहे हैं। – सं.)

गुरु की आवश्यकता

अयम् अधिकारी जनन-मरणादि-संसार-अनल-सन्तप्तो दीप्तशिरा जलराशिम् इव उपहारपाणि: श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुम् उपसृत्य तम् अनुसरति 'तद्-विज्ञानार्थं स गुरुम् एव अभिगच्छेत् समित्पाणि: श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' इत्यादि-श्रुते: ।।३०।।

– ऐसा (साधन-चतुष्टय-सम्पन्न) अधिकारी व्यक्ति जन्म-मृत्यु आदि के रूप में संसार-अग्नि से सन्तप्त होकर सिर (के केशों) में आग लग जाने पर जलाशय की ओर दौड़नेवाले के समान हाथ में उपहार लिए वेदवित् तथा ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाकर उनकी शुश्रूषा (सेवा तथा आदेश पालन) करे। जैसा कि "उसे (आत्मतत्त्व को) जानने हेतु हाथ में समिधा (यज्ञ के लिए काष्ठ) लिए हुए श्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाना चाहिए।" (मुण्ड. उ. १/२/१२) आदि के द्वारा श्रुतियों मे कहा गया है।

स गुरु: परमकृपया अध्यारोप-अपवाद-न्यायेन एनम् उपदिशति – 'तस्मै स विद्वान् उपसन्नाय सम्यक्, प्रशान्त-चित्ताय शम-अन्विताय। येन अक्षरं पुरुषं वेद सत्यं, प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ।।' इत्यादि-श्रुते: ।।३१।।

– वे (वेदज्ञ तथा ब्रह्मनिष्ठ) गुरु अत्यन्त कृपापूर्वक अध्यारोप (क्षेपणों) तथा अपवाद (निराकरण) की युक्तियों के द्वारा उसे उपदेश देते हैं। जैसा कि श्रुति (मुण्ड. उ. १/२/१३) में कहा गया है, "अपने समीप आये हुए, भलीभाँति शान्तचित्त, शमादि साधनयुक्त उस (शिष्य) के लिए, उन्होंने (गुरु) उस ब्रह्मविद्या को यथार्थ रूप से कहा, जिसके द्वारा अक्षर सत्य पुरुष (ब्रह्म) को जाना जा सकता है।"

अध्यारोप

असर्पभूतायां रज्जौ सर्प-आरोपवत् वस्तुनि अवस्तु-आरोप: – अध्यारोप: ।।३२।।

---

३१. अध्यारोप = भ्रम; अपवाद = तिरस्कार, उसे मिथ्या सिद्ध करना; तत्त्वत: = यथार्थ रूप से

– ऐसी रस्सी, जिसका स्वरूप (भूत, वर्तमान तथा भविष्य – तीनों कालों में) कभी सर्प नहीं है, उसमें सर्प के आरोप के समान ही वस्तु (ब्रह्म) में अवस्तु (संसार, माया, नानात्व) के आरोप को **अध्यारोप** कहते हैं।

वस्तु – सच्चिदानन्दम् अद्वयं ब्रह्म; अज्ञान-आदि-सकलं जडसमूहः अवस्तु ।।३३।।

– अद्वितीय सच्चिदानन्द ब्रह्मतत्त्व ही वस्तु है और अज्ञान आदि (और उससे उत्पन्न) समस्त जड़ पदार्थों का समूह (जगत्) अवस्तु है।

अज्ञानं तु – सद्-असद्भ्याम् अनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्-किञ्चित्-इति वदन्ति अहम् अज्ञ इत्यादि-अनुभवात् 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैः निगूढाम्' इत्यादि-श्रुतेश्च ।।३४।।

– जिसे न सत् कहा जा सकता है और न असत्; जो सत्त्व, रजस् और तमस् – इन तीन गुणों से मिलकर बना है, ज्ञान का प्रतिबन्धक है और भावरूप जो कुछ है, उसे अज्ञान कहते हैं। "मैं अज्ञानी हूँ" – इस अनुभव के कारण और "प्रकाश-रूप आत्मा की शक्ति अपने ही (सत्त्व आदि) गुणों में छिपी रहती है" (श्वेत. उ. १/३) आदि श्रुतियों के द्वारा इसका अस्तित्व प्रमाणित होता है।

इदम् अज्ञानं समष्टि-व्यष्टि-अभिप्रायेण एकम् अनेकम् इति च व्यवह्रियते ।।३५।।

– इस अज्ञान को समष्टि के रूप में 'एक' तथा व्यष्टि के रूप में 'अनेक' कहते हैं।

तथाहि यथा वृक्षाणां समष्टि-अभिप्रायेण वनम् इति एकत्व-व्यपदेशो यथा वा जलानां समष्टि-अभिप्रायेण जलाशय इति तथा नानात्वेन प्रतिभासमानानां जीवगत-अज्ञानानां समष्टि-अभिप्रायेण तद्-एकत्व-व्यपदेशः 'अजाम् एकाम्' इत्यादि-श्रुतेः ।।३६।।

– जैसे वृक्षो के समष्टि को 'एक वन' और जल की समष्टि को 'एक जलाशय' कहते हैं; वैसे ही जीवों में नाना प्रकार से प्रतीत होनेवाले अज्ञान की समष्टि को श्रुतियों में 'एक अजन्मा' (श्वे. उ. ४/५) आदि के द्वारा निर्दिष्ट किया गया है।

इयं समष्टि-उत्कृष्ट-उपाधितया विशुद्ध-सत्त्व-प्रधाना ।।३७।।

– उत्कृष्ट उपाधि से युक्त होने के कारण यह समष्टि (अज्ञान) विशुद्ध-सत्त्व-प्रधान है।

एतद्-उपहितं चैतन्यं सर्वज्ञत्व-सर्वेश्वरत्व-सर्व-नियन्तृत्व-आदिगुणकम् अव्यक्तम् अन्तर्यामी जगत्कारणम् ईश्वर इति च व्यपदिश्यते सकल-अज्ञान-अवभासकत्वात्। 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादि-श्रुतेः ।।३८।।

– इस प्रकार की उपाधि से युक्त चैतन्य सबका ज्ञाता, सबका स्वामी, सबका नियन्ता आदि गुणों से युक्त है और समस्त अज्ञान को प्रकाशित करने के कारण अव्यक्त, अन्तर्यामी, जगत्कारण ईश्वर कहा जाता है। श्रुति में भी उसे "जो सर्वज्ञ तथा सर्ववित् है।" (मुण्ड. उ. १/१/९) आदि कहा गया है।

ईश्वरस्य इयं समष्टिः अखिल-कारणत्वात् कारणशरीरम् आनन्द-प्रचुरत्वात् कोशवद्-आच्छादकत्वात् च आनन्द-मय-कोशः सर्व-उपरमत्वात् सुषुप्तिः अतएव स्थूल-सूक्ष्म-प्रपञ्च-लयस्थानम् इति च उच्यते ।।३९।।

– ईश्वर की उपाधि-रूप इस 'अज्ञान-समष्टि' को, सब (समस्त प्रपंच) का कारण होने से 'कारण-शरीर'; आनन्द के प्राचुर्य तथा कोश के समान आच्छादक होने से 'आनन्दमय कोश' और इसी में सबका लय हो जाने से इसको 'सुषुप्ति' भी कहते हैं, अतः इसे 'स्थूल-सूक्ष्म जगत्-प्रपंच का लय-स्थान भी कहा जाता है।

यथा वनस्य व्यष्टि-अभिप्रायेण वृक्षा इति अनेकत्व-व्यपदेशो यथा वा जलाशयस्य व्यष्टि-अभिप्रायेण जलानि इति तथा अज्ञानस्य व्यष्टि-अभिप्रायेण तद्-अनेकत्व-व्यपदेशः 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इत्यादि-श्रुतेः ।।४०।।

– जैसे 'वन' को उसके व्यष्टि (या इकाइयों) की दृष्टि से 'वृक्षसमूह' और जैसे 'जलाशय' के द्वारा व्यष्टि की दृष्टि से 'जल की बूँदों' के रूप में अनेकत्व का बोध होता है, उसी प्रकार अज्ञान के व्यष्टि-रूप में अनेकत्व का बोध होता है, जैसा कि "इन्द्र अपनी माया के द्वारा अनेक रूप धारण करते हैं।" (ऋ. ६/४७/१८) आदि श्रुतियों में कहा गया है।

अत्र व्यस्त-समस्त-व्यापित्वेन व्यष्टि-समष्टिता-व्यपदेशः ।।४१।।

– यहाँ अज्ञान के प्रत्येक (जड़-चेतन) पदार्थ में व्याप्त होने के कारण 'व्यष्टि' (अज्ञान) और समस्त (जड़-चेतन पदार्थों) में व्याप्त होने के कारण 'समष्टि' (अज्ञान) कहा जाता है।

इयं व्यष्टिः निकृष्ट-उपाधितया मलिन-सत्त्व-प्रधाना ।।४२।।

– यह व्यष्टि (अज्ञान) निकृष्ट उपाधि के कारण मलिन (रजो-तमो-गुणों से युक्त) सत्त्वप्रधान है।

एतद्-उपहितं चैतन्यम् अल्पज्ञत्व-अनीश्वरत्व-आदि-गुणकं प्राज्ञ इति उच्यते एक-अज्ञान-अवभासकत्वात् ।।४३।।

– एक अज्ञान का अवभासक होने के कारण, अल्पज्ञत्व,

अनीश्वरत्व आदि गुणोंवाले इस उपाधियुक्त (ससीम) चैतन्य को '**प्राज्ञ**' कहा जाता है।

अस्य प्राज्ञत्वम् अस्पष्ट-उपाधितया अनति-प्रकाशकत्वात् ।।४४।।

– अस्पष्ट उपाधियुक्त तथा अल्प प्रकाशक होने के कारण इसे 'प्राज्ञ' कहते हैं।

अस्य अपि इयम् अहङ्कार-आदि-कारणत्वात्-कारण-शरीरम् आनन्द-प्रचुरत्वात् कोशवद्-आच्छादकत्वात् च आनन्दमय-कोशः सर्व-उपरमत्वात् सुषुप्तिः अतएव स्थूल-सूक्ष्म-शरीर-प्रपञ्च-लय-स्थानम् इति च उच्यते ।।४५।।

– इस (व्यष्टिरूपी प्राज्ञ) का भी अहंकार आदि जो 'कारण-शरीर' है, उसमें आनन्द का प्राचुर्य एवं कोश के समान आच्छादक होने से 'आनन्दमय कोश' तथा समस्त इन्द्रियों का उसमें उपरम (लय) हो जाने से 'सुषुप्ति' और इसी कारण इसे 'स्थूल-सूक्ष्म देह-प्रपंच का लय-स्थान' भी कहते हैं।

तदानीम् एतौ ईश्वर-प्राज्ञौ चैतन्य-प्रदीप्ताभिः अति-सूक्ष्माभिः अज्ञानवृत्तिभिः आनन्दम् अनुभवतः 'आनन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञः' इति श्रुतेः, सुखम् अहम् अस्वाप्सम् न किञ्चित् अवेदिषम् इति उत्थितस्य परामर्श-उपपत्तेः च ।।४६।।

– इस (सुषुप्ति) अवस्था में 'ईश्वर' (समष्टि चैतन्य) तथा 'प्राज्ञ' (व्यष्टि चैतन्य) – दोनों ही चैतन्य से प्रकाशित होने वाली अज्ञान की एक अति सूक्ष्म वृत्ति के द्वारा आनन्द का अनुभव करते हैं, जैसा कि श्रुति में कहा गया है, "प्राज्ञ चैतन्य की सहायता से[१] आनन्द का भोक्ता है।" (माण्डु. उ. ५) और सोकर उठे हुए व्यक्ति की – "मैं सुखपूर्वक सो रहा था। मैं कुछ भी नही जानता था" – इस अनुभूति से भी यही प्रमाणित होता है।

अनयोः समष्टि-व्यष्ट्योः वनवृक्षयोः इव जलाशय-जलयोः इव वा अभेदः ।।४७।।

– वन तथा वृक्ष अथवा जलाशय तथा जल के समान ही (ईश्वर तथा प्राज्ञ के रूप में) समष्टि तथा व्यष्टि (अज्ञान) परस्पर अभिन्न हैं।

एतद्-उपहितयोः ईश्वर-प्राज्ञयोः अपि वन-वृक्ष-अवच्छिन्न-आकाशयोः इव जलाशय-जलगत-प्रतिबिम्ब-आकाशयोः इव वा अभेदः 'एष सर्वेश्वर' इत्यादि-श्रुतेः ।।४८।।

– वन तथा वृक्ष से सीमित आकाश और जलाशय एवं जल मे प्रतिबिम्बित आकाश के समान ही (समष्टि तथा व्यष्टि अज्ञान) उपाधि से युक्त ईश्वर तथा प्राज्ञ भी अभिन्न हैं, जैसा कि "यही सर्वेश्वर है।" (माण्डु. उ. ६) आदि श्रुतियों में कहा गया है।

तुरीय का स्वरूप

वनवृक्ष-तद्-अवच्छिन्न-आकाशयोः जलाशय-जल-तद्गत-प्रबिम्ब-आकाशयोः वा आधारभूत-अनुपहित-आकाशवद्-अनयोः अज्ञान-तद्-उपहित-चैतन्ययोः आधारभूतं यद्-अनुपहितं चैतन्यं तत् तुरीयम् इति उच्यते '(शान्तं) शिवम् अद्वैतं चतुर्थं मन्यते' इत्यादिश्रुतेः ।।४९।।

– वन-वृक्ष के द्वारा आच्छादित आकाश अथवा जलाशय-जल द्वारा प्रतिबिम्बित आकाश के आधारभूत उपाधिरहित (असीम) आकाश (महाकाश) के समान ही समष्टि (ईश्वर) तथा व्यष्टि (प्राज्ञ) अज्ञान और उसकी उपाधियो से युक्त चैतन्यो का आधारभूत जो निरुपाधिक (असीम, अपरिच्छिन्न) आकाश है, उसे तुरीय कहते हैं, जैसा कि "जो शान्त, मंगलमय तथा अद्वय है, उसे चतुर्थ अवस्था कहते हैं।" (माण्डु. उ. ७) आदि श्रुतियों में कहा गया है।

इदम् एव तुरीयं शुद्धचैतन्यम् अज्ञानादि-तद्-उपहित-चैतन्याभ्याम् तप्त-अयःपिण्डवद्-अविविक्तं सन् महा-वाक्यस्य वाच्यं, विविक्तं सन् लक्ष्यम् इति चोच्यते ।।५०।।

– यही तुरीय या शुद्ध चैतन्य, तप्त लौहपिण्ड के समान अज्ञान आदि रूपी उपाधियो से युक्त हुआ अखण्ड चैतन्य ही (तत्त्वमसि) महावाक्य का वाच्यार्थ है और विविक्त (लौह तथा अग्नि की विभक्त) हुआ चैतन्य उसका लक्ष्यार्थ है।

❖ (क्रमशः) ❖

१. चेतोमुखः – चैतन्य को द्वार बनाकर स्वप्न आदि का बोध करनेवाला।
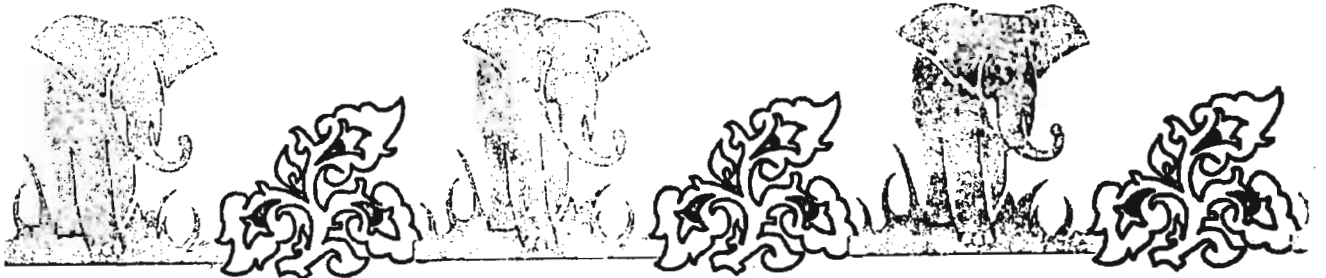
आचार्य रामानुज (२६)

स्वामी रामकृष्णानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका से वापस लौटने पर चेन्नै की जनता ने उनसे अनुरोध किया कि उस प्राचीन नगरी में भी वे धर्मप्रचार शुरू करें। इसी के उत्तर मे उन्होंने अपने गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द को वहाँ भेजा। वहाँ से उन्होंने बँगला मासिक 'उद्‌बोधन' के लिए श्री रामानुज के जीवन पर एक लेखमाला लिखी, जो बाद मे पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। यह उसी के हिन्दी अनुवाद की अगली कड़ी है। – सं.)

कृमिकण्ठ

इस घटना के पश्चात् एक दिन श्री रामानुज ने सुना कि उनके गुरुदेव महापूर्ण ने किसी शुद्र भक्त के मृत शरीर का संस्कार किया है और सभी लोग इसे अब्राह्मणोचित कर्म कहकर उनकी निन्दा कर रहे हैं। पता चला कि महापूर्ण के सब सगे-सम्बन्धी उन्हें त्यागकर चले गये हैं और इसी कारण अत्तुला अपनी ससुराल से आकर पिता की सेवा में लगी हुई हैं। श्री रामानुज द्वारा अतिशय दुखी होकर उनके ऐसे आचरण की बात पूछने पर उन्होंने कहा, "वत्स, वैसे तो सचमुच यह धर्मशास्त्र के अनुसार ठीक नहीं हुआ है, परन्तु धर्म किसे कहते है? **महजनो येन गता: स पन्था** – महापुरुषगण जिस पथ पर चलते आये हैं, वही सच्चा धर्मपथ है। देखो, तिर्यक योनि में उत्पन्न होने पर भी जटायु का संस्कार श्री रामचन्द्र ने सम्पन्न किया था। युधिष्ठिर क्षत्रिय होकर भी शुद्र विदुर की पूजा करते थे। इसका कारण क्या है? इसका यही उत्तर हो सकता है कि सच्चे ईश्वरानुरागी भक्तों की कोई जाति नहीं होती। वे सभी वर्णों से श्रेष्ठ हुआ करते हैं, क्योंकि श्रीराम तथा युधिष्ठिर के समान धर्मरक्षकों के द्वारा कभी अनुचित आचरण होना सम्भव नहीं। मैंने जिन भक्त के शरीर का संस्कार किया है, वे मेरी अपेक्षा हजारों-गुना भगवद्‌भक्ति-परायण थे। उनका दासत्व करके मैं स्वयं को कृतार्थ समझता हूँ।" इस पर यतिराज को असीम आनन्द हुआ और श्री गुरु के चरणों को धारणकर उन्हें साष्टांग प्रणाम करते हुए उन्होंने अपने सन्देह के लिए क्षमायाचना की।

एक बार जब महापूर्ण ने आकर श्री रामानुज को साष्टांग प्रणाम किया और वे इस पर जरा भी विचलित नहीं हुए, तो उनके आसपास उपस्थित भक्तों ने विस्मय में आकर प्रश्न किया, "यतिराज, आपको गुरुदेव ने प्रणाम किया, परन्तु आपने उन्हें रोका नहीं। इसका क्या कारण है?" वे बोले –

गुरुणोक्त प्रकारेण वर्तनं शिष्य लक्षणम्।
अत: तेनोक्त मार्गेण वर्तेऽहं वै न चान्यथा।।[१]

– "सच्चे शिष्य का लक्षण क्या है अर्थात् उसे गुरु के समक्ष कैसा आचरण करना चाहिए, यह सिखाने को ही गुरुदेव ने ऐसा आचरण किया। अत: मै उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग का ही आश्रय लूँगा, मैं इससे बिल्कुल भी विचलित नहीं होऊँगा।"

उन लोगो ने जब महापूर्ण से ऐसे अनुचित आचरण का कारण पूछा, तो उन्होंने कहा, "मैंने यतिराज के भीतर अपने गुरु श्री यामुनाचार्य को देखकर उन्हें साष्टांग प्रणाम किया।" इस प्रकार महापूर्ण ने यतिराज के असाधारणत्व को सबके समक्ष प्रकट किया।

श्री गोष्ठिपूर्ण को श्री रामानुज साक्षात् नारायण समझते थे। एक बार उन्हे द्वार बन्द करके काफी समय तक ध्यान करते देखकर बाद मे यतिराज ने उनसे पूछा, "**को मंत्र किञ्च ते ध्यानम्**[२] – आप किस मंत्र की उपासना और किस देवता का ध्यान कर रहे थे?" इस पर उन्होने उत्तर दिया, "मेरे गुरु श्री यामुनाचार्य के पादपद्म ही मेरे ध्येय हैं। मैं उन्ही के सर्व-सन्तापहारी नाम का जप करता हूँ।" तब से श्री रामानुज भी अपने गुरुदेव को नारायण की अपेक्षा भी श्रेष्ठ मानने लगे।

इसके कुछ दिन बाद महापूर्ण परमपद को प्राप्त हुए। श्री रामानुज ने इस पर अतीव व्यथित होकर भी धैर्य का अवलम्बन कर उनके अत्तुला आदि परिवारवर्ग को सांत्वना प्रदान की।

उन्ही दिनों कृमिकण्ठ नामक चोलनरेश ने अपनी राजधानी कांचीपुर में निवास करते हुए सम्पूर्ण चोलराज्य को शैव-मतावलम्बी बनाने का संकल्प किया। उनके समान संकीर्ण तथा नृशंस हृदयवाले राजा भारतवर्ष में बहुत कम ही जन्मे होंगे। उन्होंने सोचा कि यदि श्री रामानुज शैवमत ग्रहण कर लें, तो फिर पूरा चोलराज्य उसी मत का अनुयायी हो जायेगा। यदि वे वैष्णवमत को त्यागकर शैवमत स्वीकार नहीं करते, तो फिर उनका संहार करके भी चोलराज्य में शैवमत का एकाधिपत्य स्थापित करना होगा। ऐसा निश्चय करके उन्होंने कुछ नृशंस अधिकारियों को श्री रामानुज के पास भेजा कि वे लोग उन्हें कांचीपुर ले आएँ। श्रीरंगम पहुँचकर जब उन लोगों ने राजा का आदेश बताया, तो श्री रामानुज तत्काल उनके साथ चलने को राजी हो गये और तैयार होने के लिए जब वे मठ के भीतर गये, तो कुरेश ने उनसे कहा, "लोगो के मुख से सुनने मे आया है कि कृमिकण्ठ ने आपके प्राण लेने के लिए ही आपको कांची बुला भेजा है। आपके रहते चोलराज्य में शैवमत का प्रचार असाध्य समझकर ही नृशंस राजा ने ऐसा भयंकर कर्म करने का संकल्प किया है। अतएव आपका वहाँ जाना बिल्कुल भी उचित नहीं है, क्योंकि आपका जीवन बचा रहे, तो सम्पूर्ण पृथ्वी का कल्याण होगा। भगवान के चरणा मे

१. प्रपन्नामृतम् ६०/३५-३६ २. वही ४२/२२

पहुँचने के लिए आप ही एकमात्र पथ हैं; मेरे ही समान इस जगत् में संसार-ताप से दग्ध तथा परम विपन्न अनेक लोग हैं, जिन्हें एकमात्र आप ही आश्रय देने में समर्थ हैं। उनके लिए दूसरा कोई सहारा नही है। अतएव आप अनुमति दीजिए कि आपके स्थान पर मैं जाऊँ। आपके काषाय वस्त्र मैं पहन लेता हूँ और आप मेरे श्वेत वस्त्र पहनकर दूसरे द्वार से श्रीरंगम से प्रस्थान कर जायें। देरी करने को अब समय नहीं है। आप अभी तैयार हो जाइए।'' श्री रामानुज ने यह सुनकर थोड़ा विचार किया और कुरेश की बात से सहमत हुए। उन्होंने अविलम्ब कुरेश का वेश धारण किया और कुरेश को अपने काषाय वस्त्रों में सज्जित देखने के बाद तीव्र गति से मठ के पश्चिम की ओर स्थित वन की ओर प्रस्थान किया। गोविन्द आदि शिष्यों ने क्रमश: उनका अनुसरण किया।

इधर कुरेश जब अपने पूज्यपाद गुरुदेव के काषाय वस्त्र धारण करके तथा हाथ में दण्ड-कमण्डलु लेकर राज्याधिकारियों के पास पहुँचे, तो वे लोग उन्हें वास्तविक रामानुज समझकर उन्हें कांचीपुर मे कृमिकण्ठ के पास ले गये। चोलराज ने उन्हें देखकर पहले तो उनका बड़ा आदर किया। वे भलीभाँति जानते थे कि श्री रामानुज महागुणी तथा ज्ञानी हैं, क्योंकि जब वे स्वयं लगभग आठ वर्ष के थे, तभी उनकी बहन के प्रेतग्रस्त होने पर इन्ही श्री रामानुज ने उसे स्वस्थ किया था। अतएव वे कुरेश को ही श्री रामानुज समझकर बोले, ''महात्मन्, आप आसन ग्रहण कीजिए। आपसे धर्म-विषयक चर्चा करने की इच्छा से ही मैंने आपको यहाँ बुलवाया है और मेरी सभा के पण्डितगण भी आपसे वार्तालाप करने को उत्सुक हैं। कृपा करके बताइये कि मेरे जैसे मनुष्य का क्या कर्तव्य है?'' इस पर कुरेश ने कहा, ''हे राजन्, हे सुधीगण, सर्वलोकपावन श्री विष्णु ही आब्रह्म-स्तम्ब समस्त जीवो के उपास्य हैं।''

यह सुनकर कृमिकण्ठ सहसा क्रोध से अधीर होकर बोल उठे, ''मैं तो आपको महापण्डित और परम भक्त समझता था, परन्तु अब देखता हूँ कि आप महा-पाखण्डी हैं। क्योंकि लोकगुरु सर्वसंहारक शिव को छोड़कर जब आपकी विष्णु की उपासना में प्रवृत्ति है, तो स्पष्ट हो जाता है कि आपकी बुद्धिवृत्ति सामान्य लोगों के ही समान है। जो सर्वलोकसंहारी काल का भी संहार करने के कारण महाकाल नाम से विख्यात हैं, कालक्रम से विष्णु को भी जिनके हाथों विनाश की प्राप्ति होगी, उन्ही सर्वशक्तिमान भगवान शिव को त्यागकर आपने उनकी अपेक्षा दुर्बल विष्णु की उपासना करने की सलाह दी, अतएव आपके समान मूर्ख और कौन होगा। आप इस मत का परित्याग कर दीजिए। यहाँ उपस्थित विद्वान् आपको शास्त्र एवं युक्ति द्वारा शिवतत्त्व समझा देंगे और उसे हृदयंगम करके आप आज ही शैवमत में दीक्षित हो जाइये, नहीं तो फिर आपको छुटकारा नही मिलेगा।''

इतना कहकर कृमिकण्ठ के चुप हो जाने पर, जैसे शिकारी कुत्तों का दल अपने मालिक का संकेत पाते ही, बड़ी खोज के बाद प्राप्त हाथियों के दुर्दम्य नेता पर एक साथ टूट पड़ता है और उसे फाड़ डालने का प्रयास करता है, सभा-पण्डितों ने भी कुरेश के साथ वैसा ही आचरण किया। उन लोगों ने शास्त्रों का केवल एक ही अंश लेकर उनके साथ व्यर्थ वाग्युद्ध आरम्भ किया। कुरेश भी निर्भयतापूर्वक अपने मत का समर्थन करने लगे। इसी प्रकार काफी समय बीत गया। अन्त म कृमिकण्ठ और सह पाने में असमर्थ होकर बोले, ''हे पाण्डित्य-अभिमानी, यदि तुम अपने प्राण बचाना चाहते हो, तो स्वीकार कर लो कि **शिवात् परतरो नास्ति** – शिव की अपेक्षा श्रेष्ठ दूसरा कोई नही है। इस पर कुरेश ने हँसते हुए कहा – **द्रोणमस्ति तत: परम्** अर्थात् शिव की अपेक्षा द्रोण बड़े हैं। यहाँ पर 'शिव' तथा 'द्रोण' परिमाणवाची शब्दों के रूप में आये हैं। लगभग बत्तीस सेर वजन को एक 'द्रोण' और उसके आधे वजन को एक 'शिव' कहा जाता है।

कुरेश के इस प्रकार उपहास का कारण यह था कि चोलराज तथा उनके सभासद अनन्त, अपरिमेय, अद्वितीय, देवताओं के भी अगोचर श्री भगवान की इति करना चाहते थे, अर्थात् भगवान ऐसे है, इसके भिन्न और कुछ नही है और हो भी नही सकते – इस हीनबुद्धि से उत्पन्न सिद्धान्त को सर्वोत्कृष्ट सिद्ध करने का प्रयास कर रहे थे। जहाँ कही भी धर्म को लेकर विषम द्वन्द्व हुआ है, वहीं यह स्पष्ट दीख पड़ता है कि दोना पक्षों का उद्देश्य अनन्त भगवान को अन्तवान प्रमाणित करना हो जाता है। सुख-शान्ति के एकमात्र उपाय परम पवित्र धर्म के नाम पर विश्व मे कितना रक्तपात, कितने दुख एवं अशान्ति की सृष्टि हुई है – इसका हिसाब नही लगाया जा सकता। प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति यह स्वीकार करेगा कि मानव का ऐसा आचरण निरर्थक तथा घोर अज्ञानप्रसूत है।

कुरेश बुद्धिमानों में अग्रगण्य एवं परम भक्त थे। उन्होने अपना मन, प्राण, ज्ञान, बुद्धि, बल, देह तथा आत्मा – सब कुछ पूर्णत: श्री रामानुज के पादपद्मों में समर्पित कर दिया था। उपरोक्त घटना उनकी परम गुरुभक्ति की पराकाष्ठा का निदर्शन कराती है। वे निश्चित रूप से जानते थे कि चोलनरेश के पास जाना मौत के मुख मे प्रवेश करना है। पर अपने गुरुदेव के बहुमूल्य जीवन की रक्षा के लिए अपने प्राणो की आहुति देना परम सौभाग्य मानकर उन्होने बड़े प्रफुल्ल चित्त के साथ उस क्रूर राजसिह की गुहा मे प्रवेश किया था। सच्चे भक्त एवं ज्ञानी का हृदय स्वाभाविक रूप से भयशून्य होता है। **आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन**[३] – ब्रह्मानन्द को पाकर वह किसी से नही डरता। अतएव राजा के धमकी देने

३. तैत्तिरीय उपनिषद् २/९

तथा अधिकारियों द्वारा प्रताड़ित होने पर वे जरा भी विचलित नही हुए। बल्कि उन्होंने तत्काल अपने परम सौभाग्य का बोध करते हुए मन-ही-मन भगवान को यह कहते हुए धन्यवाद दिया, "हे प्रभो, इस अधम सन्तान के प्रति तुम्हारी असीम करुणा को देखकर आज मुझे श्रीमद्-यामुनमुनि की अमृतवाणी का किंचित् बोध हुआ। मैं तुम्हें बारम्बार प्रणाम करता हूँ ।

नमो नमो वाङ्मनसातिभूमये
नमो नमो वाङ्मनसैकभूमये ।
नमो नमोऽनन्तमहाविभूतये
नमो नमोऽनन्तदयैकसिन्धवे ।।[४]

– मन-वाणी से अतीत पुरुष को बारम्बार नमस्कार है, मन-वाणी के एकमात्र आधार को बारम्बार नमस्कार है । अनन्त, अचित्य प्रभावशाली को बारम्बार नमस्कार है । अपार करुणा के एकमात्र सागर को बारम्बार नमस्कार है ।

"यहाँ तक कि ये प्रतापी राजा तथा ये समस्त गण्यमान्य लोग भी तुम्हारी अनन्त महिमा नही जानते, परन्तु तुमने इस नगण्य जीव को इस विषय का उपदेश देकर इसे निरहंकारी एवं विर्नीत होना सिखाया हैं, इससे बढ़कर सौभाग्य की बात इसके लिए और क्या हो सकती है?"

जिस समय कुरेश इस प्रकार ध्यानपरायण होकर अपने प्राणों की भूख मिटाते हुए अपने परमप्रिय हृदयनाथ की अनन्त गुणराशि का रसास्वादन कर रहे थे, उसी समय उनकी हास्यपूर्ण वाणी सुनकर कृमिकण्ठ तथा उनके दरबारी क्रोध से दाँत पीस रहे थे। चोलाधिपति ने तीक्ष्ण स्वर मे कुरेश को बाँधने का आदेश दिया और राजकर्मचारियो से बोले, "तुम लोग इस दुष्ट को अविलम्ब मेरे सामने से ले जाओ और अभी इसकी दोनों आँखें निकाल डालो। पहले जब मेरी बहन पिशाचग्रस्त हुई थी, तो इसी दुराचारी ने उसे स्वस्थ किया था; अत: इसके प्राण मत लेना, परन्तु उससे भी दुखदायी सजा देकर इस शिवद्वेषी के इसी जीवन में भविष्य के लिए अनन्त नरकभोग की व्यवस्था करो।"

इस राजकीय आदेश के अनुसार अधिकारियों ने कुरेश को निर्जन स्थान में ले जाकर तरह-तरह से सताने के बाद एक-एक कर उनके दोनों नेत्र निकाल लिये। परन्तु असीम पीड़ा का अनुभव करते हुए भी उन महापुरुष ने किसी भी प्रकार का असन्तोष या क्रोध नहीं व्यक्त किया। बल्कि वे अपने उत्पीड़कों के कल्याण हेतु श्री भगवान के पादपद्मो में बारम्बार प्रार्थना करने लगे और साथ ही यह सोचकर उन्हें अतीव आनन्द हो रहा था कि इस प्रकार वे अपने प्राणो से भी प्रिय भवसागर के कर्णधार को ऐसी पीड़ा से बचाने मे सफल हुए थे।

सामान्य मनुष्य शारीरिक सुख-दुख को लेकर ही व्यस्त रहता है। सुख पाने तथा दुख मिटाने की प्रेरणा से ही परिचालित होने के कारण उसकी समस्त शारीरिक एवं मानसिक शक्तियाँ, उसे केवल भौतिक सुख के अन्वेषण में ही लगाये रहती हैं। उसे बोध नही हो पाता कि इससे भी कोई उच्च आदर्श हो सकता है। अर्थ द्वारा कामादि का भोग ही उसके जीवन का प्रमुख उद्देश्य होने के कारण, वह विविध प्रकार के अनुचित उपायों का भी सहारा लेकर धनोपार्जन हेतु प्रयत्न करता है। परन्तु हाय! बड़े कष्टपूर्वक धनसंचय करने के बाद जब वह इन्द्रियों के सुख भोगना आरम्भ करता है, तभी थोड़ा तृप्तिलाभ करने के पूर्व ही, अपनी अनिच्छा के बावजूद उसे चिरकाल के लिए अपने पार्थिव प्रियजनों से विदाई ले लेनी पड़ती है। यदि वह एक बार भी सोचकर देखे कि उसे कितनी बड़ी दुखराशि के विनिमय में अल्प-सा सुख प्राप्त होता है, तो फिर ऐसा व्यवसाय उसे कभी रुचिकर नही लगेगा। इसी कारण सच्चे विद्वानो में इन्द्रियों के सुख भोगने की थोड़ी भी लालसा नही होती, बल्कि श्रुति एवं युक्ति के द्वारा उन्हे विशेष रूप से बोध हो जाता है कि इन्द्रियाँ ही समस्त दुखों की मूल हैं। अनित्य वस्तुओ के प्रति आसक्ति ही दुख का कारण है। आज अथवा कुछ दिनों बाद, दुर्दमनीय काल तुम्हारी परमप्रिय वस्तु को अवश्य छीन लेगा और तब तुम्हारे दुख की सीमा न रहेगी। इसी कारण स्त्री-पुत्र-देह-गेह आदि के स्थान पर यदि नित्य वस्तु, सर्वसुखों के आधार – श्रीहरि के पादपद्मो में आत्म-समर्पण किया जाय, तो फिर नित्यानन्द का आस्वादन हो सकता है। जो लोग ऐसा कर पाते है, उन्हे फिर कभी दुख का अनुभव नही करना पड़ता।

कुरेश ने यह बात विशेष रूप से हृदयंगम कर ली थी, इसीलिए अतुल ऐश्वर्य को समस्त दुखो का मूल समझकर उन्होने उसका पूर्णत: त्याग करके श्री रामानुज के पादपद्मों की सर्वतापनाशिनी छाया का आश्रय लिया था। उनकी सहधर्मिणी ने भी उन्हीं के पदचिन्हों को अपनाया था, इसका हम पहले ही उल्लेख कर चुके है। अतएव कृमिकण्ठ की कर्कश वाणी तथा अतीव निष्ठुर आचरण ने उन्हे पीड़ित करने के स्थान पर आनन्दित ही किया था। नृशंस अधिकरियों ने जब विविध प्रकार से सताने के बाद उन्हे अन्धा कर डाला, तब उन्होंने उन दुष्टो के प्रति साष्टांग प्रणिपात करते हुए कहा, "भाइयो, तुम्ही लोग मेरे सच्चे मित्र हो। जो नेत्र मानव-मन को सृष्टिकर्ता की ओर न ले जाकर मायामयी नश्वर सृष्टि में आबद्ध रखते हैं, तुम्हारी कृपा से आज मुझे उन दो प्रबल शत्रुओं के हाथ से छुटकारा मिला गया। ईश्वर तुम्हारा मंगल करे।"

उन्हे स्थिर चित्त से सारी पीड़ा सहन करते देख और उनकी सरल आशीर्वाणी सुनकर उन राज-कर्मचारियो के पाषाण-तुल्य हृदय मे भी किंचित् भय एवं भक्ति का संचार हुआ। उन

४. स्तोत्ररत्न, २१

लोगों ने उन पर अत्याचार करना छोड़ मार्ग के किनारे बैठे एक भिक्षुक को बुलाकर आदेश दिया, "तू इन साधु का हाथ पकड़कर इन्हें श्रीरंगम पहुँचा आ। मार्ग में व्यय करने को ये पैसे लेता जा।" भिक्षुक आनन्दपूर्वक कुरेश को श्रीरंगम की ओर ले चला।

कहते हैं कि इसके थोड़े दिन बाद ही एक उत्कट एवं असाध्य रोग के कारण कृमिकण्ठ का देहावसान हो गया। चोलनरेश शिवभक्त थे, तथापि हरिहर में अभेद ज्ञान न होने के कारण वे विष्णु तथा वैष्णवो के द्वेषी हो गये थे। यह दोष केवल शैवो म ही रहा हो, ऐसी बात नही, वैष्णव लोग भी बड़े शिवद्वेषी थे। कुरेश के समान महापुरुष भले ही संकीर्ण मनोवृत्ति के न हों, परन्तु शिव के प्रति उनके उपहास को लेकर वैष्णवगण सोचते हैं कि इसके द्वारा उन्होंने शिव की लघुता प्रतिपादित की थी और किसी भी वैष्णव के लिए शिवभक्ति करना उचित नही है। उनके लिए शिव-मन्दिर में जाना तो दूर, उसे देखना भी महापाप है। दौड़ते हुए मतवाले हाथी के पाँवो-तले आकर प्राणत्याग करना बल्कि अच्छा है, परन्तु सड़क के किनारे स्थित शिवालय मे प्रविष्ट होकर प्राण बचाना वैष्णवोचित कर्म नहीं है। कुरेश आदि आचार्यो के आचरण वस्तुत: दोषरहित होने पर भी दक्षिण के कोई-कोई पुराने तथा आधुनिक वैष्णव उनके हृद्गत भावो को समझने मे असमर्थ होकर शिवनिन्दा तथा शिवद्वेष को अपने अंगो का भूषण बना डालते है और इसका जो दुष्फल होता है, उसका भी उन्हे भोग करना पड़ता है ।

श्री रामानुजाचार्य के अनुयाइयो में भी दो दल है। उनमें से एक का नाम है तेङ्कले और दूसरे का नाम है बड़केले। इनमें सभी शाकाहारी है और जीवहिंसा को महापाप मानते है; परन्तु इनके मतानुसार शैवहिंसा मे दोष नही है। केवल इतना ही नही, बड़केले कहते है कि तेङ्कले को मारने में दोष नही है और तेङ्कले का कहना है कि बड़केले का सर्वनाश ही उनके जीवन का प्रधान उद्देश्य है। शिवनिन्दा का भी सर्वत्र ऐसा ही शोचनीय फल होता है। ❖ **(क्रमश:)** ❖

रामकृष्ण मिशन के वार्षिक रीपोर्ट का सार

बेलूड़ मठ में १६ दिसम्बर २००१ ई. को अपराह्न में रामकृष्ण मिशन की ९२वीं वार्षिक साधारण सभा आयोजित हुई, जिसमे सन् २०००-०१ का वार्षिक रीपोर्ट पढ़ा गया।

इस वर्ष की महत्त्वपूर्ण घटनाओं में बेलगाँव, जम्मू तथा विजयवाड़ा केन्द्रो का आरम्भ होना विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हमारे दिल्ली केन्द्र द्वारा परिचालित चिकित्सा केन्द्र मे एक फाको इमल्सिफिकेशन युनिट (Phaco Emulsification Unit) चालू किया गया।

बंगलादेश में स्थित रामकृष्ण मठ के बागेरहाट केन्द्र में श्रीरामकृष्ण मन्दिर का समर्पण हुआ और हैदराबाद के केन्द्र में विवेकानन्द मानवीय उत्कर्ष संस्थान (Vivekananda Institute of Human Excellence) का उद्घाटन किया गया। पश्चिम बंगाल स्थित इछापुर केन्द्र द्वारा एक चल-चिकित्सा इकाई चालू किया गया। इसके साथ ही आस्ट्रेलिया के सिडनी नगर मे एक नये केन्द्र की शुरुआत की गयी।

इस वर्ष के दौरान करीब ६.५५ करोड़ रुपये खर्च करके मिशन ने देश के विभिन्न भागो में बृहत् पैमाने पर राहत तथा पुनर्वास के कार्य किये गये, जिससे १७०० गाँवो के करीब १२ लाख लोग लाभान्वित हुए। उड़ीसा में पिछले वर्ष प्रारम्भ किया गया बृहत् पुनर्वास प्रकल्प प्राय: समाप्ति पर है, जिसके तहत अब तक ३०३ आवास-गृह और ३ विद्यालय-सयुक्त आश्रय-भवन आदि का निर्माण-कार्य पूरा हो चुका है। गुजरात में उससे भी बृहत् पुनर्वास योजना का शुभारम्भ किया गया है।

निर्धन छात्रो को छात्रवृत्ति तथा वृद्ध, रुग्ण तथा असहाय लोगो की आर्थिक सहायता आदि कल्याण-कार्यो में २.१९ करोड़ रुपये खर्च हुए।

९ अस्पतालो एवं चल-चिकित्सालयों सहित १०७ चिकित्सा-केन्द्रो द्वारा करीब ५७ लाख रोगियों को चिकित्सा-सेवा प्रदान की गयी, जिसके तहत २६.५४ करोड़ रुपये खर्च हुए।

हमारे शिक्षा-संस्थानो द्वारा बाल-विहार से लेकर स्नातकोत्तर स्तर तक, १.१२ लाख विद्यार्थियो को शिक्षा प्रदान की गयी, जिनमे ३३ हजार से भी अधिक छात्राएँ थी। शिक्षा-कार्य के लिए ७४.५७ करोड़ रुपये खर्च किये गये।

९.११ करोड़ रुपये की लागत पर कई ग्रामीण तथा आदिवासी विकास-योजनाओ का भी कार्यान्वन किया गया।

इस अवसर पर अपने सदस्यों एवं मित्रो के प्रति उनके हार्दिक तथा सतत सहयोग के लिए हम आन्तरिक धन्यवाद तथा कृतज्ञता व्यक्त करते है।

स्वामी स्मरणानन्द

महासचिव